भक्ति के नियम

१. भगवान की भक्ति का प्रचार करना, गो रक्षण और उसके लिए गोचर भूमि छुड़वाना, जलाशय बनवाना, मनुष्य मात्र के लिए शिक्षा का प्रचार करना, वैदिक अनुभूत औषधियों का प्रचार करन, ग्रामों में परस्पर के झगड़े और वैमनस्य मिटा कर शान्ति व प्रेम बढ़ाना, सब संस्थाओं में भगवद्भक्ति और धर्म का भाव जाग्रत करना, राजा और प्रजा व ही का हित चिन्तन करना।

२. यह पत्र प्रतिमास की पूर्णिमा को प्रकाशित हुआ करेगा।

३. अग्रिम वार्षिक चन्दा सर्व साधारण से २) होगा

४. जो महानुभाव २५) रुपया देंगे वह पत्रके संरक्षक और ५) देने वाले सहायक होंगे

५. बाहर का कोई भी व्यापारिक विज्ञापन नहीं लिया जायगा।

६. लेखोंको प्रकाशित करना, न करना, घटाना, व बढ़ाना सर्वथा सम्पादक के अधिकार में होगा

७. लेख सम्बन्धी पत्र व्यवहार सम्पादक के नामसे और प्रबन्ध सम्बन्धी पत्र व्यवहार मैनेजर भक्ति के नाम से होना चाहिए

८. जिन ग्राहकों के पास जिस मास की "भक्ति" न पहुंचे, उनको स्थानीय पोस्ट आफिस में पूछ कर उस मास की अमावस्या से पूर्व कार्यालय में सूचना भेजनी चाहिये स्थानीय पोस्ट आफिस में विना पड़ताल किये अथवा अमावस्या के बाद सूचना आने पर "भक्ति" नहीं भेजी जायगी

९. पत्रोत्तर के लिये जवाबी, कार्ड भेजना चाहिये।

विषय सूची।

विषय	लेखक	पृष्ठ
१. वेदोपदेश		२५३
२. ईश्वर भक्ति	[ले० श्री स्वामी आत्मानन्दजी	२५४
३. सार्व भौम योग	[ले० श्री पं० शिवप्रसाद जी शास्त्री	२६०
४. आह्वान (कविता)	[ले० श्री मोहन शर्मा	२६५
५. त्वंपद विवेक	[ले० श्री महात्मा राम	२६५
६. क्वचिदन्यतोऽपि	[ले० श्री मधुमङ्गल जी मिश्र बी० ए०	२६८
७. अवतार सम्प्रदाय और श्रीरामकृष्ण	[ले० श्रीस्वामी मेघेश्वरानन्द जी	२६९
८. उपासना का स्वरूप	[ले० एक प्रेमी	२७१
९. पुराणा गाथा	[ले० श्रीस्वामी भोले बाबाजी	२७३
१०. संशयात्माविनश्यति	[ले० श्री हरिकृष्णदास जी गुप्त	२७७
११. एक भक्त की भावना		२८०
१२. प्राप्ति स्वीकार		२८३
१५. भजन		२८३

REGD. No. L. 2077

भक्ति प्रेस में मिलने वाली पुस्तकें।

			मूल्य	
१.	भगवद्गीता संस्कृत तथा भाषा टीका सहिता			॥=)
२.	भगवद्गीता दशम अध्याय पर्यन्त	...	,,	।=)
३.	वेदोपनिषद्	... ...	,,	।)
४.	अष्टोत्तरशतमन्त्रमाला	... ...	,,	।)
५.	ज्ञानधर्मोपदेश	... ...	,,	।।।)
६	भक्ति ज्ञान योग संग्रह	...	,,	=।।)
७.	सत्य शब्द संग्रह (गुटका)	... ...	,,	।)
८.	सत्य शब्द संग्रह	... ...	,,	।=)
९.	शब्दसंग्रह	... ...	,,	।)
१०.	सारसंग्रह	... ...	,,	=)
११.	भाषा फक्किका प्रकाश	... ...	,,	।=)
१२.	भगवद्भक्तांक	... ...	,,	॥=)
१३.	भगवदंक	... ...	,,	॥।)
१४.	गवांक	... ...	,,	१)

नोटः-एक रुपये से कम मूल्य की पुस्तक मंगाने वालों को डाक महसूल सहित टिकट भेजने चाहियें।

मिलने का पताः-

श्री भगवद्भक्ति आश्रम, रेवाड़ी।

मुद्रक तथा प्रकाशक भूमानन्द ब्रह्मचारी "भक्ति प्रेस" भगवद्भक्ति आश्रम, रेवाड़ी।

॥ गोपाल ॥

G. P. Gorakhpur

जनता में भगवद्भक्ति भाव को जाग्रत करने वाली सचित्र मासिक पत्रिका ।

वर्ष ५ | श्री भगवद्भक्ति आश्रम रेवाड़ी, माघ पूर्णिमा सं० १९८७ | अङ्क ५

वेदोपदेश

अहं रुद्रेभिर्वसुभिश्चरामि अहमादित्यैरुतविश्वदेवैः ।
अहं मित्रावरुणोभा विभर्मि अहमिन्द्राग्नि अहमश्विनोभा ॥१॥

मैं रुद्रगण, वसुगण, आदित्यगण इत्यादिगणों के साथ विचरण करती हूं । इसके अतिरिक्त जितने देव हैं उन सबके साथ मैं ही विद्यमान होके पोषण कर रही हूं । मैं मित्र और वरुण दोनों को धारण पोषण करती हूं । मैं इन्द्र और अग्नि और रात्रिका धारण पोषण करने हारी हूं ॥ १ ॥

अहं सोम माहनसं विभर्मि अहं त्वष्टारमुत पूषणं भगम् ।
अहं दधामि द्रविणं हविष्मतेसुप्राव्ये यजमानाय सुन्वते ॥२॥

मैं पाप निवारक सोम यज्ञ को धारण करती हूं। त्वष्टा, पूषा, भग की रक्षा करती हूं सर्वदा हविष्मान् अर्थात् यज्ञार्थ हविष्य वस्तुओं से युक्त सोमाभिषव करते हुए यजमान के लिये मैं सर्वदा धन रखती हूं, अतः मेरा भजन करो ॥ २ ॥

अहं राष्ट्री संगमनी वसूनां चिकितुषी प्रथमा यज्ञियानाम् ।
तां मा देवा व्यदधुः पुरुत्रा भूरिस्थात्रां भूर्यावेशयन्तीम् ॥३॥

ऐ मनुष्यो ! मैं ही ईश्वरी हूं, मैं उपासकों को धन पहुंचाने हारी हूं, यज्ञार्ह देवों में सर्व श्रेष्ठा हूं। इस व्यापिनी जगन्माता मुझ को देवगण बहुत स्थानों में उपासना पूजा करते हैं, मैं बहुत वस्तुओं में स्थिता हूं समस्त पदार्थों के यथायोग्य स्थान में वस्तु निवेश करने हारी मैं हूं ॥ ३ ॥

मया सो अन्नमत्ति यो विपश्यति यः प्राणिति य ईं शृणोत्युक्तम् ।
अमन्तवो मान्त उपक्षियन्ति श्रुधिश्रुत श्रद्धिवं ते वदामि ॥ ४ ॥

जो पशु कीट पतङ्गादि प्राणी देखते, जो वृक्षादि केवल श्वास प्रश्वास लेते और मनुष्य जाति वचन को सुनती वह २ सब ही प्राणी मेरे कारण अन्न खाते और अपने अस्तित्व रखते हैं। परन्तु हे मनुष्यो ! मुझको न मानने हारे वे नास्तिक सर्वथा क्षीण हो जाते हैं । ऐ श्रोता जीव ! तू सुन ! तेरे लिये श्रद्धाजनक विज्ञान का उपदेश करती हूं ॥ ४ ॥

ईश्वर-भक्ति

भक्ति क्या है ।

[ले० श्री स्वामी आत्मानन्द जी]

सद्गुरु परमात्मा व हरिजन गण हमारे आस पास के भले मनुष्य तथा पवित्र धर्म शास्त्र कहते हैं, भक्ति करो भक्ति करो। संसार के भिन्न २ धर्म भिन्न २ रीति से कहते हैं कि भक्ति करो, भक्ति करो और प्रभु कहते हैं कि भक्ति करो तथा हमारा अन्तरात्मा भी भीतर से यही कहता है कि भक्ति करो, हम और भी स्थानों से लोगों से सुनते आते हैं कि यह संसार स्वप्नवत् है, जीवन क्षण भंगुर है, देह पानी के बुलबुले के समान है, यहां का विवाह थोड़ी देर के लिए है, जर जायदाद यहीं रह जाने वाली हैं. मुझ को हाथ २ में कुछ रखा नहीं है, माया मिथ्या है और ईश्वर सत्य है इस से भक्ति कर लो, भक्ति कर लो। इस प्रकार सब ओर से भक्ति पर जोर दिया जाता है, भक्ति क्या है ? इसका सच्चा अर्थ तो कोई२ साधु या प्रेमी भक्त ही समझ सकते हैं और इन समझने वालों में से कोई भाग्यशाली महात्मा ही उस के अनुसार चल सकते हैं क्योंकि भक्ति कुछ बाहरी वस्तु नहीं है किन्तु हृदय का प्रेम है। जैसाकि एक महान भक्त राजा भी कह गये हैं:-

हमारा जीव यह ईश्वर का अंश है, किन्तु वह ईश्वर से बिलग पड़ गया है, जिससे पीछे वह ईश्वर से मिलने के लिए तड़फता है। जीव की यह

छटपटाहट तथा उसके अंग में आगे बढ़ने के लिए जो क्रियायें होती हैं उसी का नाम भक्ति है। ऐसा होने से प्रत्येक जीव ईश्वर की ओर खिंचा रहता है और उसमें भी जागृत जीव के अन्तर में यह स्वाभाविक आकर्षण बहुत बढ़ जाता है इस आकर्षण को शास्त्र में प्रभु प्रेम कहते हैं और यह सत्य प्रेम बढ़ जाता है तब उसे भक्ति कहते हैं। इस से मर्त्यों का आचरण बदल जाता है क्योंकि प्रभु का आकर्षण बढ़ जाने से इस दुनियां की सब मायिक वस्तु फीकी लगने लगती हैं, शास्त्र के प्रत्येक वाक्य सत्य देख सकते हैं, महात्माओं के संग में रहना उन्हें अच्छा लगता है और प्रभु के मार्ग पर चलने का उनमें बल आजाता है जिस से व्यवहार के क्षणिक सुखों की ओर वे ध्यान नहीं देते और जब कोई सगा सम्बन्धी इस बारे में उन पर दबाव डालता है तो वे कहते हैं भाइयो! मेरे अन्तर की इच्छा मुझे अपने करतार की ओर जाने की आज्ञा देती है, इसे तुम कैसे रोक सकोगे? मुझे बताओ तो जरा, कि महान प्रभु के आकर्षण में आ कर दृढ़ पड़ गई हुई मेरी इच्छा को इस जगत् की कोई वस्तु क्या रोक सकती है? अब मुझे रोक रखने का व्यर्थ परिश्रम मत करो, क्योंकि तुम्हारे वैभव, सौंदर्य सुख लालच और स्नेह के आकर्षण की अपेक्षा प्रभु प्रेम से हमें बहुत अधिक मिल चुका है। तुम्हारे संसार के ये सब सुख सर्वशक्तिमान महान प्रभु के आनन्द सागर के आगे एक बूंद के बराबर भी नहीं है। इस से अब मुझे पीछे कैसे लौटा सकोगे? अब तो मुझे इस आनन्द के महानसागर में जानेदो, जाने दो और यदि हो सके तो तुम भी मेरे साथ चलो।

जिस के हृदय में भक्ति का उच्च भाव आ जाता है, उनके दिल में ईश्वर के लिए ऐसी व्यग्रता होती है कि इस स्थिति में आये बिना किसी भी रीति से हम उनकी थाह नहीं लगा सकते और उस के भजन ऐसे उच्च भाव पूर्ण होते हैं कि उन्हें हम समझने में भी असमर्थ होते हैं। बिना मुख्य कारण के अपना मस्तक ऊंचा करते ही नहीं और जब कभी कुछ करना होता है तो वे यही कहते हैं कि भजन करने के हमारे एकांत में कौनसा खजाना रखा है इसे क्या तुम जानते हो? इस एकान्त कोने पर तो दुनियां भर का कुल धन न्यौछावर है। इस एकान्त कोने के लिए सात समुद्र का नवरत्न भी यदि मुझे दे देना पड़े तो भी वह मेरे लिए तृण बराबर है, उसके लिये कुबेर का भंडार भी कंकड़ के समान है और अपने प्यारे को स्मरण करने के इस एकान्त कोने के बदले में यदि मुझे इन्द्रासन भी दिया जाय तो उस को भी मैं लात मारे बिना न रहूं क्योंकि इन सब दौलतों को एकत्र करने पर भी वे थोड़ी है तथा नष्ट हो जाने वाली है किन्तु मेरे एकान्त कोने में तो केवल वह अविनाशी प्यारा विराजमान है जिस में से अनन्त ब्रह्मांड उत्पन्न हुवा है इस से उसे छोड़ कर दूसरे धन की किस लिए परवाह करूं। पारस को छोड़कर पत्थर कौन लेगा? मैं तो यही मांगता हूं कि हे परम कृपालु पिता, मेरे हृदय के एकान्त कोने में अपना अविचल वास रखो, अपना अविचल वास रहने दो।

भाइयो। बाहर से दृष्टि गोचर होने वाला कोई भी कारण न होने पर भी स्वभावतः जैसे लोहा चुम्बक की ओर आकर्षित हो जाता है, वैसे ही बिना किसी स्वार्थ के जिस की आत्मा परमात्मा की ओर आकृष्ट हो जाता है, वह केवल इतने से रुक नहीं सकता। वह अनुभवी तो यही पूछता है कि क्या तुम जानते हो कि मेरा मुट्ठी भर का हृदय प्रभु प्रेम के लिए

कितना खिल जाता है ? जब उस में भगवत् प्रेम भर जाता है तब यह जगत् उसके आगे एक खिलौना के समान होजाता है, तब आकाश के सितारों की ऊंचाई मिट जाती है, तब वह महासागर एक प्याले के समान होजाता है, तब सात स्वर्ग उसमें समा जाते हैं। जब मुट्ठी भर हृदय में प्रभु प्रेम आता है तब आकाश भी उसके आगे छोटा हो जाता है, तब इस संसार की तुच्छ छोटी वस्तुओं की तो बात ही क्या पूछना है ?

भाइयो ! जिसका हृदय ऐसा विशाल होता होगा उसका आनन्द कैसा अलौकिक होगा ? इसका तो विचार करो कि जिसका हृदय इतना बड़ा हो जायगा वह हमारी तुच्छ वस्तुओं में कैसे पड़ा रह सकेगा ? वह तो प्रभु की तान में लीन होकर मस्त होजाता है। सब स्थानों पर इन सब वस्तुओं को देख देख कर यही कहा करता है कि हे प्यारे ! तेरे में सूर्य से भी अधिक प्रकाश है, चन्द्र से भी बढ़कर शीतलता है, गुलाब से भी बढ़कर कोमलता है, द्राक्षा-सव से भी बढ़ कर मीठा नशा है, आकाश से भी बढ़कर बड़प्पन है, कामदेव से भी बढ़कर सुन्दरता है, स्वर्ग के नन्दनवन की अपेक्षा अधिक शोभा है और इच्छित फल देने वाले कल्पवृक्ष से भी बढ़कर तेरी दृष्टि में फल देने का बल है। अहो ! प्यारे तू तो तूही है, तुझे छोड़ कर अब मैं और किस को भजूं। अब तो तेरे सौन्दर्य में तथा तेरी मस्ती में ही मेरा जीवन व्यतीत होजाय यही मेरी इच्छा है। धन्य है प्यारे तू धन्य है !

प्रिय पाठको ! मेरे परम प्यारे ईश्वर भक्तो ! इसी प्रकार बिना किसी कारण के स्वभावतः आत्मा परमात्मा की ओर आकर्षित हो जाय और उसमें मस्त होजाय, इसी का नाम भक्ति है ! इस भक्ति को ही अनन्य भक्ति कहते हैं, इसे ही परम भक्ति कहते हैं। नारद जी, शुकदेव जी, सनकादिक जी, महादेव जी आदि योगेश्वरों ने तथा श्री कृष्ण भगवान् और दूसरे भक्तों ने जिस भक्ति की महिमा बारम्बार गाई है वह भक्ति आत्मा का परमात्मा की ओर आकर्षण ही है। इसके अतिरिक्त भक्ति के नाम से जो बाहरी क्रियायें प्रसिद्ध हैं वे किसी काम की नहीं हैं, तथा व्यर्थ हैं। इसमें कुछ तत्व नहीं है। भाइयो ! यदि सच्ची भक्ति करना है तो आत्मा को परमात्मा के पास जाने दो अर्थात् बाहरी आडम्बर में न रह जाकर जैसे होसके प्रभु प्रेम बढ़ाने का प्रयत्न करो।

ईश्वर की भक्ति करने की दो रीतियां

प्रभु की भक्ति करने की दो रीतियां हैं। पहली बाहर से और दूसरी हृदय से। बहुत से मनुष्य बाहर से भक्ति करते हैं परन्तु हृदय से नहीं करते और बहुत से मनुष्य हृदय से भक्ति करते हैं किन्तु बाहर से नहीं करते, किन्तु दोनों प्रकार की भक्ति करने की आवश्यकता है।

हाथ जोड़ना, पैर पड़ना, साष्टांग दंडवत् करना, कोई पवित्र वस्तु प्रभु के पास धरना, तिलक करना, माला पहनना, संन्यासी होतो दंड धारण करना, योगी होतो शरीर में राख मलना, जटा बढ़ाना अथवा अपने संप्रदाय के मतानुसार वस्त्र धारण करना, ये सब भक्ति के बाहरी चिन्ह हैं।

यद्यपि बाहर से हाथ जोड़ना, सिर नवाना या दंडवत् करना ये सब हृदय के प्रेम बिना किसी काम के नहीं हैं, तो भी इन्हें करने की बड़ी आवश्यकता है

क्यों कि हृदय स्थित प्रेम को दिखाने के ये बाहरी चिन्ह हैं।

किसी घर में आग लगने पर धूआं जैसे बाहर निकलता है वैसे ही जिसके अन्तर में सच्ची भक्ति रहती है वह बाहर से ऐसे चिन्ह धारण करता है। क्यों कि जैसे धूआंसे अग्नि मालूम होता है वैसे ही भक्ति के बाहरी चिन्हों से हृदय के प्रभु प्रेम का ज्ञान होता है। इससे ऐसा करने की प्रत्येक मनुष्य को आवश्यकता है।

हृदय में प्रभु प्रेम न रहने पर भक्ति के बाहरी चिन्हों को धारण करना ढोंग है।

जिसके हृदय में सच्चा प्रभु प्रेम या भाव भक्ति न हो किन्तु दूसरों की देखा देखी, लोकलाज से या किसी स्वार्थ वश जो राख पोतते हैं या गले में माला डाल कर घूमा करते हैं उन्हें ढोंगी समझो। जैसे किसी कंगाल मनुष्य को बनियों के समान वस्त्र पहन कर और तड़क भड़क करके घूमने पर लोग उसे ढोंगी और लुच्चा समझते हैं, वैसे ही जिसके हृदय में प्रेम नहीं है और जो भक्ति का बाहरी आडम्बर रखते हैं उन्हें भी ढोंगी समझना चाहिये।

जिसका मुख अच्छा नहीं होता वह दूसरों के सामने सुन्दर लगने के लिये अपने मुंह पर पावडर पोत कर घूमता है और व्यर्थ मन में प्रसन्न होता है, तथा पास में पैसा न होने पर भी जो शाहजी बने फिरते हैं, इन्हीं के समान भक्ति के बाहरी तड़क भड़क करने वालों को भी समझो।

ऐसे तड़क भड़क वाले भक्त प्रतिदिन दर्शन करने जाते हैं, कीर्तन करते हैं, भजन गाते हैं, हरि-कथा सुनते हैं, भगवान् की बड़ी बड़ी बातें मारते हैं और बाहर के सेवा स्मर्ण में भी बहुत सा समय व्यतीत करदेते हैं, किन्तु उनका हृदय पाप शून्य नहीं रहता। काम क्रोध लोभ मान और ईर्षा उनके हृदय में भरे रहते हैं, तो भी बाहर से वह भक्ति का ढोंग करते हैं। किन्तु याद रखो कि जब अंतःकरण शुद्ध नहो तब तक भक्ति के बाहरी शृंगारों से और ऊपरी ढोंग से आत्मा का कुछ भी कल्याण नहीं होसकता। इस से सब लोगों को चाहिये कि इस प्रकार ढोंग में ही अंत तक न पड़े रहकर अन्तः करण पवित्र करने पर अधिक ध्यान चाहिये।

सच्चे भक्त ढोंगी नहीं होते और न वे ऐसे बाहरी तड़क भड़क पर जोर देते हैं। वे तो सर्वदा प्रभु प्रेमसे आनंदित रहते हैं और जो उनके पास जाता है उसे भी आनंद देते हैं क्यों कि भक्ति का लक्षण प्रभु प्रेम से उत्पन्न आनंद है। इससे सच्चे भक्त बाहरी चिन्हों की अपेक्षा हृदय के आनंद पर ही अधिक ध्यान देते हैं। इतना होने पर भी बाहर से भक्ति दिखाना भी बहुत आवश्यक है क्यों कि जैसे प्रत्येक लश्कर सिपाही को भिन्न भिन्न वर्दी होती है, वैसेही भगवान् के प्रत्येक भक्त को संसार में अपनी भक्ति प्रगट करने के लिये बाहरी चिन्ह होना चाहिये।

कुछ मनुष्यों को प्रभु पर हृदय से प्रेम होता है और इसके लिये वे यथा शक्ति व्यय भी करते हैं किन्तु वे बाहरी चिन्ह धारण नहीं करते। क्यों कि वे भक्त या प्रेमी कहा जाना पसंद नहीं करते और इसी से वे दूसरे हरिजनों से मिलते भी नहीं तथा वे कंठी माला या तिलक लगाना भी नहीं चाहते। वे कहते हैं कि इसमें क्या रखा है। किन्तु उनका इस प्रकार व्यवहार करने का कारण यह है कि उनका हृदय स्थित भाव अच्छी तरह से खिला नहीं है और उनमें प्रगट

करने का साहास नहीं होता, इससे वे लोक लाज व लज्जा से भक्ति के मैदान में बाहर नहीं आसक्ते।

सारांश यह है कि हृदय के भाव बिना बाहर के चिन्ह जैसे व्यर्थ हैं वैसे ही हृदय में सच्चे प्रेम होने पर भी जो भक्ति के बाहरी चिन्ह धारण नहीं करते उन्हें भी ऐसे ही कच्चे भक्त समझो। इससे हम सब को पैदा करने वाले परम कृपालु परमात्मा का हृदय से तथा बाहर से मान करना सीखना चाहिये और याद रखो कि जब हमारे में सच्ची दीनता आवेगी तभी महान् प्रभु को पवित्र अंतःकरण का सच्चा मान दिया जा सकेगा, इस से यदि अपनी भक्ति को सफल करना हो तो सर्वदा ऐसी ही भावना रक्खो।

प्रभु प्रेमी जनों के लक्षण।

१. प्रभु प्रेमी हरि जनों के वचनों में बड़ी मधुरता रहती है।

२. दूसरों को दुःख देने की या किसी प्रकार की अड़चन डालने की उनकी इच्छा नहीं होती।

३. दूसरों की आवश्यकताओं की ओर वे बहुत ध्यान रखते हैं और स्वयं कष्ट सहकर भी दूसरों के अपराध को क्षमा कर देते हैं।

४. दूसरों के सुख देने के लिये वे अपने सुख का त्याग कर देते हैं।

५. अच्छा काम करने में उन्हें देरी नहीं लगती।

६. उनका उपकार न मानने पर भी वे दुःखी नहीं होते।

७. क्रोध या वैर करना तो उन्हें स्वप्न में भी नहीं आता।

८. ऐसे प्रेमी जनों का हृदय ऐसा निर्मल होजाता है कि शत्रु भी उनसे शत्रुता करना नहीं चाहते।

९. बीमारी या और किसी संकट के आ पड़ने पर भी वे अधीर नहीं होते और न अपने हृदय की शान्ति को ही अलग करते हैं।

१०. दिन प्रतिदिन इतना विश्वास बढ़ता जाता है कि शास्त्र की सब बातें उन्हें सिद्ध हुई दिखाई पड़ती हैं।

११. कल क्या होगा, इस की उन्हें तनिक भी चिन्ता नहीं रहती।

१२. खाने पीने, बोलने, चालने तथा पहरने ओढ़ने में वे सर्वदा सादे होते हैं।

१३. वे अपनी बिलकुल परवाह नहीं करते पर दूसरे के लिये अतिशय चिंतित रहते हैं।

१४. पास में पाप होते हुएदेख कर भी पाप में वे नहीं फंसते।

१५. अपना मिजाज वे कभी भी खो नहीं देते और उनके हृदय में शांति, क्षमा, दया और परमार्थ वृत्ति विराजमान रहती है। सारांश यह है कि नीति शास्त्र में कथित सब गुण प्रभु प्रेमी भक्तों में अपने आप ही धीरे धीरे आजाते हैं।

१६. ज्यों ज्यों प्रभु के पवित्र नाम का जप होता है तथा ज्यों ज्यों प्रभु के गुणों का ज्ञान और प्रभु के स्वरूप का ध्यान बढ़ता जाता है, त्यों त्यों वे भक्त, मनुष्य से बदल कर पवित्र देवता रूप होते जाते हैं।

१७. इस जगत् में रहकर ऐसे प्रभु प्रेमी भक्त जीवन मुक्ति का सुख भोगते हैं और अंत में हरि की सेवा में जाकर तथा मुक्त होकर परमानंद भोगा करते हैं।

भक्तों के सुहावने तीस लक्षण नीचे लिखते हैं जिन का अनुष्ठान कर इस दुःखागार संसार से पार हो परम सुख रूप, निरंजन, निरामय, सच्चिदानंद, अच्युत, अविकारी, अचल, अनादि, नित्य मुक्त, शुद्ध बुद्ध स्वरूप, चेतन, अमल, अरूप अनामा जो सहज सुखकी राशि पद है उसको प्राप्त होते हैं।

चित्तवृत्ति शांत होगई हो, ब्रह्मानंद रस भोगी, पूर्णयोगी, दयादान दासातन अति घने, ज्ञान भक्तिविवेक वैराग्य, क्षमावंत, तपे नहिं ताप में, आशा रहित अमल अनुराग, अक्रोध इन्द्रिय जीत, अनुभवी, कवि कोम शील संतोष, आशा रहित अमृत वाणी बोले, सहजानंद आनंद कोश, शुद्ध स्नेही स्वार्थ नव मले, परमारथ ऊपर प्रीति, शशि सूर्यवत् साक्षी रहे, उदार अर्णव की रीत। हर्ष शोक विषे डोले नहीं, अर्ध निमिष तजे नहिं नाम। सुरतरु सुरधेनु चिंतामणि, त्यागदे सारे मन काम। परिपूरण लक्षण संत के हैं।

भोले बाबा ने भी कहा है:-

सोसंत, सोहि अनंत है, सोही परम पद पावता

माया रहित, इन्द्रीय जित, सम शांत चित, मन में दया।
कामी छली क्रोधी नहीं, संतोष से पूरण हिया॥
ज्यों चंद्रमा शीतल सदा, नहिं शोक चित्त जलावता।
सो संत, सोहि अनंत है, सोही परम पद पावता॥ १॥

धारे क्षमा, सत् सीख दे, धीरज कभी नहिं छोड़ता।
निज कार्य करने में चतुर, नहिं दुःख से मुख मोड़ता॥
सत् औ असत् सब जानता, धोखा कभी नहिं खावता।
सो संत, सोहि अनंत है, सोही परम पद पावता॥ २॥

विज्ञान निधि, वैराग्य दृढ़, नहिं देहका अभ्यास है।
निर्लोभ भीतर से सदा, गुरु शास्त्र में विश्वास है।
समदृष्टि सब में राखता, नहिं राग द्वेष सतावता।
सो संत, सोहि अनंत है, सोही परम पद पावता॥ ३॥

मोहादि गत, श्रवणादि रत, नहिं कामना कोई रही॥
उपनिषद् पथ विचरत रहत, प्रसन्न चित अति निस्पृही॥
सुख की नहिं है चाहना, नहिं दुःख से घबड़ावता।
सो संत, सोहि अनंत है, सोही परम पद पावता॥ ४॥

श्रद्धा सहित व्यवहार में, गुरु भक्त पूरण भाव से।
अति चतुर पर उपकार में, निष्कपट सहज स्वभाव से॥
अनुराग मात्र स्वरूप में नहिं अन्य कुछ भी भावता।
सो संत, सोहि अनंत है, सोही परम पद पावता॥ ५॥

है बाह्य भीतर एकसा, परमात्मा सब ही मानता।
श्रुति स्मृति गुरु सिद्धान्त निज, अनुभव सहित सब जानता॥
कर्त्तव्य कुछ बाकी नहीं, नहिं भावता न अभावता।
सो संत, सोहि अनंत है सोही परम पद पावता॥ ६॥

कुल भेद धर्मों धर्म का, अच्छी तरह से ज्ञान है।
अधिकार के अनुसार करता, सर्व का कल्याण है॥
सामर्थ्य सर्व प्रकार की, बहु युक्तियां समझावता।
सो संत, सोहि अनंत है, सोही परम पद पावत॥ ७॥

माया जगत दोनों हि के, अस्तित्व को पहिचानता।
नहिं भूल के करता रुची, निज आत्म ही धन जानता॥
निस्संग शांत उदार चित, नहिं लेश चित्त चलावता।
सो संत, सोहि अनंत है, सोही परम पद पावता॥ ८॥

है भाव विधि न निषेधका, आरम्भ सबही त्यागता।
जीवन मरण सम जान के, उन में नहिं अनुरागता॥
उत्साह चित समता सहित, सन्देह सर्व मिलावता।
सो संत, सोहि अनंत है, सो ही परम पद पावता॥ ९॥

निंदा प्रशंसा एक सी, अपमान मान समान ही।
आशा परिग्रह से रहित, नहिं शुभ अशुभ का भान ही॥

कौशल्य ! स्थित कूटस्थ में, नहिं आवता नहिं जावता।
सो संत, सोहि अनंत है, सोही परम पद पावता १०

छप्पय छन्द।

वश हों मन, वच, देह, नेह आतम में जागे।
जग से होय उदास आस सब ही की त्यागे॥
सिद्धिन की नहिं चाह, राह उनकी नहिं जाता।
ब्रह्मादिक ऐश्वर्य, तुच्छ नहिं चित्त लुभाता॥
दिव्य राज्य त्रय लोक का, विष्टा सम न सुहावता।
जाने जलता अग्नि जग सो हरिजन कहलावता॥ १॥
साधक निर्मल वृत्ति, नित्य निज चित्त निहारे।
विषय वासना भोग, रोग सम जानि निवारे॥
होवें सारों विघ्न, यत्न करता ही रहवे।
त्यागे इष्ट अनिष्ट, कष्ट आवे सो सहवे॥
जिसको दे धिक्कार, जब विषयन में चित जावता।
जाने जलता अग्नि जग, सो हरिजन कह लावता॥२॥

सार्वभौम-योग

गतांक से आगे।

[ले० श्री शिवप्रसाद जी शास्त्री]

विषयों में आसक्ति रहित होने का नाम अपरिग्रह है। शब्द, रूप, रस, गन्ध, स्पर्श ये सब विषय साधक को जब विष की भांति प्रतीत होने लगते हैं और मन इनसे अलग हो जाता है तो लोभशून्य उस वैराग्ययुक्त अन्तःकरण में पूर्ण शान्ति का पूर्ण रूप से उदय होता है। यही अपरिग्रह की सिद्धावस्था कहाती है। इस अवस्था में साधक को पूर्व जन्म का ज्ञान होता है अर्थात् अपरिग्रह के सिद्ध होने पर साधक जान सकता है कि मैं पूर्वजन्म में कौन था और पूर्वजन्म में मैंने कौन २ कर्म किये। साधक कह सकते हैं कि पूर्वजन्म से और अपरिग्रह से क्या सम्बन्ध है। अपरिग्रह से पूर्वजन्म की बात जानी जा सकती है यह बड़े आश्चर्य्य की बात है। इसका उत्तर इस प्रकार हो सकता है कि अपरिग्रह से जब चित्त निर्मल और शान्त हो जाता है तब कोई विषय उस चित्त को फंसा नहीं सकता और उसकी वृत्ति अन्तर्मुख हो कर उस में शुद्ध ज्ञान की वृद्धि होने लगती है फिर उस में तमो गुण रजोगुण की वृत्ति उत्पन्न ही नहीं होती चित्त स्वच्छ होजाता है। जीवोंके चित्तों में अनेक जन्मों के किये हुये अनेक कर्मों के संस्कार तो रहते ही हैं किन्तु नाना वृत्तियों से चित्त के चञ्चल रहने के कारण उन संस्कारों का उदय होकर अनेक जन्मों के पिछले कर्मों का स्मरण हो जाता है। जिस प्रकार अत्यन्त मलिन तथा चञ्चल जल में सूर्य के रहते हुए भी प्रतिबिम्ब नहीं दिखाई देता इसी प्रकार चित्त में पूर्वजन्म के कर्मों का संस्कार रहते हुए भी चित्त के चञ्चल और मलिन होने से उनका उदय नहीं होता, चित्त के ठहर जाने से होता है। यह अपरिग्रह की अद्भुत महिमा है परिग्रह दुखदाई है। इस प्रकार अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य्य, और अपरिग्रह रूप यमों के साधन से योग के प्रथम अधिकार को प्राप्त करता है। योगका द्वितीय अङ्ग है नियम।

शौचसन्तोषतपस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमाः

शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वर प्रणिधान ये नियम कहाते हैं।

शौच

शौच दो प्रकार का होता है एक बाह्य शौच दूसरा अन्तः शौच। जल, मृत्तिका से स्नान, मार्जन आदि क्रियाओं द्वारा शरीर को शुद्ध रखने का नाम बाह्य शौच है। मैत्री, सरलता, शीलता आदि सद्वृत्तियों से मन के मैल को धोने का नाम अन्तः शौच है। इस प्रकार बाह्य और अन्तः शौच का साधन करने से शौच सिद्ध होता है। शौच का फल महर्षि इस प्रकार लिखते हैं–

शौचात्स्वाङ्गजुगुप्सापरैरसंसर्गश्च

शौच (शुद्धि) से अपने अङ्गों के प्रति घृणा और अन्य के शरीर संसर्ग में अरुचि उत्पन्न होती है। अर्थात् शौच साधन का अभ्यास करते करते साधक जब अन्तिम सीमा तक पहुंच जाता है तब उसके अनुभव में यह बात आ जाती है कि यह शरीर मल, मूत्र, मांस, मज्जा, कफ, अस्थि, (हड्डी) रुधिर आदि अत्यन्त अपवित्र वस्तुओं से भरा हुआ अस्पृश्य चर्म का एक थैला है। इसका संसर्ग ही अपवित्रता का कारण है। देहाध्यास (देह में ममत्व बुद्धि करना) ही जीव के बन्धन का कारण है। इससे पृथक् हुए बिना हम अत्यन्त पवित्र नहीं हो सकते यह शरीर पाप का परिणाम स्वरूप है। शौच के साधन से इस प्रकार जब तीव्र घृणा बुद्धि साधक को इस पञ्चभौतिक शरीर में उत्पन्न होती है तब साधक में मोक्ष की प्रबल इच्छा उत्पन्न होती है और इस प्रकार जब अपने ही शरीर में घृणा उत्पन्न होती है तो दूसरे शरीर के संसर्ग की इच्छा कब हो सकती है ?

शौच के विज्ञान की ओर यदि हम और गम्भीर दृष्टि से देखें तो हमको विदित हो जायगा कि शौच एक अत्यन्त उत्तम साधन है और मनुष्यमात्र के पालन करने के योग्य है। भारतवर्ष प्राचीन समय में शौच के महत्व को भली भांति समझता था उस समय इस देश में पूर्ण शान्ति विराजती थी, मनुष्यों के अन्तःकरण निर्मल सरल और प्रेमपूर्ण थे, अध्यात्म विद्या की उन्नति थी, श्रद्धा और विश्वास की ज्योति जगमगाती थी। इस समय यह देश पाश्चात्यसभ्यता के कुप्रभाव में प्रभावित होकर शौचाशौच की विज्ञान रूपी अपनी पैतृक सम्पत्ति को खो बैठा, इसे यह महत्व पूर्ण विज्ञान आडम्बर मात्र दिखाई देने लगा, पशु की भान्ति मनुष्यमात्र से सहभोजिता, सहवास, आदि में अपनी उन्नति मानने लगा। फल इसका जो होना चाहिये था सो हुआ अर्थात् मनुष्यों के अन्तःकरण मलिन हो गये, काम, क्रोध, लोभ, मोह, ईर्ष्या, द्वेषने उनको अपना घर बना लिया, पिता माता, पुत्र, स्त्री, पति, भाई आदि में परस्पर अविश्वास उत्पन्न हो गया, भारतवर्ष कलह तथा अशान्ति का अड्डा बन गया, बड़े बड़े कुलीनों, विद्वानों और देशमान्यों के हृदयों में भी अशुचिता का साम्राज्य पूर्ण रूप से स्थापित होगया। प्यारे पाठको ! जब हम निष्पक्ष होकर विचार करते हैं तो हमें यह स्पष्ट समझ में आजाता है कि जहां इस महाविपरिणाम के और भी अनेक कारण हैं वहां शौचाशौच के विज्ञान का अज्ञान भी एक जबरदस्त कारण है। यदि हम ध्यान देकर विचारेंगे तो शौच का रहस्य हमको इस प्रकार समझ में आजायगा।

विज्ञानसे सिद्ध है कि मनुष्यों के शरीर में एक प्रकार की विद्युत् शक्ति होती है। एक दूसरे के शरीर का जब परस्पर स्पर्श होता है तब एक दूसरे के शरीर की विद्युत-शक्ति का एक दूसरे के शरीर में सञ्चार हो जाता है और उस विद्युत शक्तिके साथ परस्पर के शरीर तथा मन के गुण दोषों का भी प्रवाह हो जाता है। क्योंकि उस विद्युत् में शरीर तथा मन के गुण दोषों के संस्कार भी रहते हैं। उन संस्कारों का प्रभाव परस्पर के हृदयों में पड़ता है। जैसे किसी पवित्र मनुष्य ने किसी भक्ष्याभक्ष्य खाने वाले अशुद्ध विचार तथा आचार वाले के अपवित्र शरीर से स्पर्श किया तो उस अपवित्र शरीर और मन के परमाणुओं से बनी हुई अपवित्र विद्युत् उस पवित्र मनुष्य के शरीर में जाकर अपना अपवित्र प्रभाव जमायेगी और उस पवित्र मनुष्य के शरीर की पवित्र परमाणुओं तथा विचारों से बनी हुई पवित्र विद्युत् अपवित्र मनुष्य के शरीर में जाकर उसके शरीर तथा मन को पवित्र बनाएगी। इसी प्रकार अशुद्ध आचार विचार वाले तथा अशुद्ध शरीर वाले मनुष्य के हाथ का जब हम भोजन करेंगे तो उसकी दूषित अपवित्र विद्युत् निकल कर भोजन में सम्मिलित होगी और फिर भोजनके द्वारा उसका हमारे शरीर में संक्रमण होगा। यह वैज्ञानिकोंका सिद्ध किया हुआ निर्णीत सिद्धान्त है। अतः शौच विज्ञान को समझ कर मनुष्य मात्र को शौच का साधन अवश्य करना चाहिये। जब साधक पूर्ण शौच सिद्धि प्राप्त कर लेता है तो उसे शरीर की क्षण भंगुरता और विषय सुख की अलीकता का अनुभव हो जाता है और उसके चित्त में अपने शरीर की आसक्ति का अभाव और अन्य के शरीर से सम्बन्ध स्थापन में अरुचि उत्पन्न हो जाती है। महर्षि जी कहते हैं शौच का केवल इतना ही फल नहीं है किन्तु और भी पांच प्रकार की अद्भुत् शक्ति, शौच सिद्धि से साधक में जागृत होती है। यथा-

सत्वशुद्धि सौमनस्यैकाग्रेन्द्रिय
जयात्मदर्शनयोग्यत्वानि ॥

अर्थात् शौच सिद्धि से सत्वशुद्धि, सौमनस्य, एकाग्रता, इन्द्रियजय, और आत्मदर्शन की योग्यता यह पांच प्रकार की सिद्धि प्राप्त होती है। जब शौच सिद्धि होती है तब क्लिष्टवृत्ति रूपी तमोगुण दूर हो जाता है, अन्तःकरण मल रहित हो जाता है. सत्वगुण का प्रकाश होने लगता है और ज्ञान का आधिक्य हो जाता है। इसी अवस्था का नाम सत्वशुद्धि है। सत्वशुद्धि रूपी जलद्वारा मन का मैल धुल जाता है और मन में एक अपूर्व सुख की उत्पत्ति होती है उसी का नाम सौमनस्य अर्थात् मनःप्रसादता है। जिस अन्तःकरण में सत्वशुद्धि होगी उसमें सौमनस्य अपने आप हो जायगा क्योंकि सत्वशुद्धि का सौमनस्य प्रधान फल है और जब मनः प्रसाद हो जाता है तो उसमें स्थिरता उत्पन्न होती है उसे ही एकाग्रता कहते हैं। एकाग्रता होने से इन्द्रिय जय हो जाता है, अन्तःकरण की वृत्तियां अन्तर्मुख हो जाती हैं और फिर इसी कारण अन्तःकरण में आत्मदर्शन की योग्यता उत्पन्न हो जाती है।

सन्तोष

सब अवस्थाओं में सुखी रहने कोसन्तोष कहते हैं अर्थात् साधक को कितना ही अधिक दुःख हो या सुख हो; ईर्ष्या, द्वेष, शंका, मोह का अति उत्कट कारण उपस्थित हो किन्तु जब साधक इन सब अवस्थाओं में समान ही रहता है तनिक भी

विचलित नहीं होता तब साधक की इस, अविचल अवस्था का नाम सन्तोष कहाता है।

सन्तोषादनुत्तमः सुखलाभः

सन्तोष से अनुत्तम सुख लाभ होता है। अर्थात् जब संन्तोष हो जाता है तो संसार का जो कामजनित सुख है और स्वर्ग का जो दिव्य सुख है वह सब तृष्णाक्षयजनित सुख के शतांश की बराबर भी नहीं प्रतीत होता। तृष्णा (इच्छा) ही सब क्लेशों का कारण है, तृष्णा के नाश होजाने से सब दुःखों का नाश होजाता है, फिर सुख ही सुख अवशेष रह जाता है। यदि सुख के मूलकारण पर विचार किया जाय तो यही निष्कर्ष निकलता है कि विषय स्वयं सुख का कारण नहीं है किन्तु विषय के अवलम्बनसे चित्त एकाग्र होने पर उसमें सुख स्वरूप आत्मा का प्रतिबिम्ब आभसित होता है। उसी से विषयी को क्षणिक सुख की प्राप्ति होती है। विषय के क्षणभङ्गुर होने से उसमें एकाग्रता भी क्षणभङ्गुर है इस कारण आत्मप्रतिबिम्ब जनित सुख की प्राप्ति भी क्षणभङ्गुर ही होती है। किन्तु इच्छा (तृष्णा) क्षय होने से जो चित्त की में सन्तोष होता है उससे चित्त की चञ्चलता नष्ट होकर उसमें एकाग्रता स्थायी रूप से रहती है और फिर उस एकाग्र अन्तःकरण में आत्मा का प्रतिबिम्ब सदा भासमान रहता है। इसीलिये सन्तोषी को अक्षय और अविनाशी सुख की प्राप्ति होती है।

तप

शीत की प्रबलता, ग्रीष्म की तीव्रता, भूख, प्यास से विकलता आदि क्लेशों के सहने को तप कहते हैं। धर्मशास्त्रों में कृच्छ्रचांद्रायण, सन्तापन, अनशन आदि व्रतों को भी तप का ही साधन बताया है। महर्षि जी ने तप काफल इस प्रकार बताया है-

कायेन्द्रिय सिद्धिरशुद्धिक्षयात्तपः

तप के द्वारा अशुद्धि क्षय होजाने से कार्यसिद्धि और इन्द्रियसिद्धि होती है अर्थात तपरूपी अग्नि में रजो गुण, तमोगुण द्वारा हुई अशुद्धियां जब जल जाती हैं तब योगी को अणिमा, महिमा आदि अनेक प्रकार की सिद्धियां स्वयं प्राप्त होने लगती हैं। इसी का नाम कायसिद्धि है। इसी प्रकार तपस्या से जब चित्त शुद्ध और एकाग्र होजाता है तब दूरदर्शन, दूरश्रवण आदि इन्द्रियों की अनेक अद्भुतशक्तियां उत्पन्न होती हैं अर्थात् एक स्थान पर स्थित होकर योगी देशान्तर की बात सुन सकता है, दूर देश में स्थित रूप को देख सकता है दूर और देश की गन्ध को ग्रहण कर सकता है इत्यादि।

स्वाध्याय

मोक्षधर्मोपदेशक अध्यात्म शास्त्रों के पठन, मनन तथा प्रणव (ओम्) आदि शास्त्रोक्त मन्त्रों के जप को स्वाध्याय कहते हैं।

स्वाध्यायादिष्टदेवतासम्प्रयोगः ॥

महर्षि जी ने स्वाध्याय सिद्धि का फल इष्ट देवता की प्राप्ति बतलाई है। अर्थात् वेद, उपनिषद् आदि का अनुशीलन अथवा प्रणव आदि मन्त्रों का जप करते करते साधक का चित्त शुद्ध हो जाता है ऐसे शुद्ध चित्त में शुद्ध ज्ञान की प्राप्ति होती है तब साधक उस ज्ञान की सहायता से प्रकृति तथा परमात्मा के स्वरूप को समझने लग जाता है और फिर उसके हृदय में इष्टदेव परमपिता परमात्मा का प्रादुर्भाव होता है।

ईश्वर प्रणिधान

ईश्वर प्रणिधान का अर्थ है भक्ति और

भक्ति पूर्वक उस परमगुरु ईश्वर में सर्व कर्म समर्पण करना । गीता में श्रीभगवान् कृष्णचन्द्र जी ने स्वयं अपने मुख कमल से कहा है कि:-

यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोसि ददासियत्,
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम् ॥

अर्थात् हे कौन्तेय ! जो तू करता है, खाता है हवन करता है, दान देता है, तपस्या करता है वह सब मेरे अर्पण कर इस प्रकार तू शुभाशुभ कर्म के बन्धनों से मुक्त होकर अन्त में मुझे प्राप्त कर सकेगा । भक्ति मार्ग के प्रधान आचार्य देवर्षि नारद महर्षि, शाण्डिल्य तथा महर्षि अङ्गिरा ने ईश्वर के प्रति पूर्ण अनुराग को ही भक्ति का अर्थ बताया है । जब साधक अन्तः करण में यह दृढ़ विश्वास कर लेता है कि जो कुछ संसार में हो रहा है वह सब परमेश्वर की ही इच्छा से हो रहा है, इसमें हर्ष शोक, सुख दुःख मानने का कोई कारण नहीं है जो कुछ होता है होने दो, ऐसा विचार कर साधक सर्वशक्तिमान्, भक्त वत्सल, परम-पिता परमात्मा के चिन्तन में ही निमग्न रहता है और संसार की ओर से नितान्त विमुख हो जाता है, यहां तक कि उस गुणातीत के गुणों को गाते हुए उसी के अनन्यप्रेम में विह्वल हो जाता है और उसे अपने शरीर तक की सुध नहीं रहती, तब भक्त की वह अव-स्था ही प्रणिधान कहाती है । सत् असत् विषयों को त्याग कर ईश्वर-प्रणिधान में लगे हुए योगी के चित्त का अहंकार स्वयं मिट जाता है और उसके विषय वासना रूपी कर्म बन्धन भी शिथिल हो जाते हैं । फिर चित्त का निरोध होते हुए उसे समाधि पद की प्राप्ति होती है, महर्षि पतञ्जलि जी कहते हैं कि केवल ईश्वर प्रणिधान से जीव मोक्ष प्राप्त कर सकता है "ईश्वर प्रणिधानाद्वा" इस सूत्र से उन्होंने प्रमाणित किया है कि भक्ति मार्ग का योग से घनिष्ट सम्बन्ध है । भक्त जब भक्ति रस सागर में निमज्जन उन्मज्जन करते हुए भगवत्प्रेम में तन्मय हो जाता है और अपने मन और प्राण को भी भूल जाता है तब उसे इष्टदेवता, आनन्दमय, परमपुरुष, परमात्मा के स्वरूप का साक्षा-त्कार होता है । इसी को पराभक्ति कहते हैं और परा भक्ति तथा निर्विकल्प समाधि, एक ही अवस्था को कहते हैं ।

यहां तक अभी यम नियम रूपी योग के दो अंङ्गों का ही विवेचन किया गया । इन यम नियमों के यथावत् परिपालन किये बिना योग सिद्धि कदापि नहीं हो सकती है । यदि ऐसा कहा जाय तो कोई अतिशयोक्ति न होगी कि यम नियम रूप नींव के ऊपर ही योग-सिद्धि रूपी भित्ति की स्थिति होती है जो लोग ऐसा समझते हैं कि कलियुग में योग सिद्धि नहीं होती वे बड़ी भारी गलती पर हैं, ऐसा समझना उनकी महती भूल है कलियुग में ही गोरखनाथ, मत्स्येन्द्रनाथ, श्रीशंकराचार्य्य आदि अनेक सिद्ध योगी हुए हैं तथा अब भी भारतवर्ष में गुप्त और प्रकट रूप में सिद्ध योगी विद्यमान हैं । मेरा तो दृढ़ विश्वास है कि कलि-युग ही नहीं महाघोर कलियुग तथा इससे भी महामहा घोर कलियुग लग जाय तब भी यमनियमादि योग के आठ अङ्गों का यथावत् परिपालन करने से अवश्य अवश्य योग सिद्धि होगी इसमें लेश मात्र भी सन्देह नहीं है ।

अपूर्ण

— —

आह्वान

[ले० श्री मोहन शर्मा]

होते ही प्रत्यूष तुम्हारा करता हूं मैं ध्यान।
अभिनव आशा ही करती है आवेंगे भगवान॥
आज वही अभिलाषा लेकर आवाहन अभिराम।
करता हूं आजाओ भगवन! हे करुणा के धाम॥
खुली हुई है हृदय कुटी सत्वर आओ आप।
आसन उसमें बिछा हुआ है मम उर का संताप॥
पुष्पादिका पड़ी है सन्निधि विभो हरो अनुताप।
पहिनो उस प्रसून माला को यही प्रेम अनुलाप॥

त्वंपद विवेक

गतांक से आगे।

[ले० श्री महात्मा राम]

यस्माज्जातं जगत्सर्वं यस्मिन्नेव प्रलीयते।
येनेदं धार्यते सर्वं तस्मै ज्ञानात्मने नमः॥

त्वंपद विवेकान्तरगत जो पांचवां आनन्दमयकोष है उसको विशेष रूप से जानने के अभिप्राय से तैत्तरिय उपनिषत् में कहे हुए पांचर अवयवों वाले पक्षी रूप से उन पंच कोषों को यहां पर दिखलाते हैं जिन कोषों के द्वारा उस परं ब्रह्म परमात्मा का ज्ञान होता है। जो सर्वान्तर्यामि, सर्वेश्वर, सर्वशक्तिमान्, सर्वज्ञ, सर्वका आत्मा ईश्वर है, जिस के जानने से अज्ञान तत्काल नष्ट होकर परमानन्द स्वरूप ब्रह्म की प्राप्ति होती है। यथा 'ब्रह्मविद्ब्रह्मैव भवति'। ब्रह्म का ज्ञाता ब्रह्मरूप ही होता है। तथा च 'ब्रह्मविदाप्नोति परम्'। ब्रह्म का जानने वाला परम पुरुषार्थ रूप ब्रह्म को ही प्राप्त होता है। अब जिन लक्षणों द्वारा वह ब्रह्म जाना जाता है उन लक्षणों को कहते हैं। 'सत्यं ज्ञान मनंतंब्रह्म'। जो ब्रह्म मिथ्या असत्य भाव वाला न होनेसे सत्य है जड़ अज्ञान के अभाव वाला होने से ज्ञान स्वरूप है और अन्त वाला न होने से अनन्त है। ब्रह्म की अनंत रूपता अन्यत्र भी कही है:-

न क्वापित्वादेशतोऽन्तो नित्यत्वान्न च कालतः।
न वस्तुतोऽपि साम्यत्वात्मादानन्तं ब्रह्माणं त्रिधा॥

सर्वत्र व्यापक होने से ब्रह्म देशसे अंत वाला नहीं है, सर्व काल में सत्य स्वरूप नित्य एक रस रहने वाला होने से काल से अन्त वाला नहीं है, सर्वका आत्मा होने से वस्तु से अन्त वाला नहीं है। भाव यह है कि किसी देश में परमात्मा है और किसी दूसरे देश में नहीं है ऐसा नहीं क्योंकि 'आकाशवत् सर्वगतश्चनित्यं'। इस श्रुति वाक्य से ब्रह्म सर्वदेश में व्यापक है 'नित्यं' नित्य कहने से ब्रह्म सर्व काल में है। ऐसा नहीं जो किसी कालमें हो और किसी में नहीं हो। सर्वान्तर्यामि कहने से सर्व के अंतर रहने वाला हुआ इसलिये किसी वस्तु में है किसी में नहीं ऐसा नहीं किन्तु। 'तदन्तरस्य सर्वस्य'। वह परमात्मा सर्व के अन्तर है इसलिये वस्तु से अन्त वाला नहीं है। उस अखण्ड ब्रह्म को हृदयाकाश में बुद्धि रूपी गुहामें साक्षी रूप से स्थित जो पुरुष जानता है वह विद्वान् इसी शरीर में सर्व वस्तुओं की कामना को प्राप्त करलेता है।

'तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः संभूतःआकाशाद्वायुः
वायोरग्निः अग्नेराप अद्भ्यः पृथिवी पृथिव्या ओषधयः
ओषधीभ्योन्नम् अन्नात्पुरुषः'।

सत्, चित्, आनन्द स्वरूप ब्रह्म है उसी सर्व के आत्मा रूप परम कारण ब्रह्म से यह शब्द गुण वाला अवकाश रूप आकाश उत्पन्न हुआ। आकाश से शब्द तथा स्पर्श गुण वाला वायु उत्पन्न हुआ। वायु से शब्द, स्पर्श, तथा रूप गुण वाला अग्नि उत्पन्न हुआ। अग्नि से शब्द, स्पर्श, रूप, रस गुणों वाला जल उत्पन्न हुआ। जलसे शब्द, स्पर्श, रूप, रस तथा गन्ध गुण वाली पृथिवी उत्पन्न हुई, पृथिवी से वृक्षादि औषधि उत्पन्न हुई, औषधि से अन्न उत्पन्न हुआ, अन्न से वीर्य द्वारा पुरुष उत्पन्न हुआ, 'स वा एष पुरुषो अन्नरसमयः'। यह अन्न का सार भूत शुक्रमय यह प्रसिद्ध देहरूप पुरुष है उसका यह प्रत्यक्ष शिर ही शिर है। यह दाहिना बाहु दक्षिण पक्ष है।

यह वाम भुजा उत्तर पक्ष है। कण्ठ से नीचे तथा कटि भाग से ऊपरका मध्य भाग आत्मा है। कटि भाग से नीचे दोनों पाद पुच्छके आकार वाले होने से प्रतिष्ठा आधार है। जिस अन्न का विकार रूप यह अन्नमय कोष है वह अन्न पृथिवी के आश्रित है। अन्न से ही समस्त जीव उत्पन्न होते हैं, अन्न से ही जीवन को धारण करते हैं और अन्तमें अन्न में ही प्रवेश करजाते हैं। अन्न ही सर्व भूतप्राणियों में बड़ा है और सर्व प्राणिमात्र के क्षुधा रूपी रोगकी औषधि है। इसी लिये अन्न सब भूतों में बड़ा है तथा औषधि रूप होने से सब का कारण है। इस लिये जो अन्न को ब्रह्म रूप जानते हैं वे सर्व प्रकार से अन्न को प्राप्त करते हैं। अन्न को सब प्राणी खाते हैं और अन्न भी सब प्राणियों को खाता है। इस लिये सर्वंअन्नमेव' सब कुछ अन्न रूप ही है।

पूर्व कहे हुवे अन्नमय से भीतर वायु रूप गौण आत्मा प्राण मय और है। उस अन्नमय शरीर के आकार वाला यह प्राणमय भी है क्योंकि जैसा जैसा आकार शरीर का था वैसा ही आकार शरीर में पूर्ण होने के कारण प्राण का भी सांचे में डाले हुवे द्रव्यों की न्याई तदाकार बन जाता है। उसका यह प्रसिद्ध प्राण ही शिर है उसका व्यान दक्षिण पक्ष है, अपान वायु जो गुदा स्थान में रहता है वह उत्तर पक्ष है, देह के मध्य भाग के आकाश में स्थित समान वायु आत्मा है, और ऊर्ध्व को गमन करने वाला उदान वायु का आधारभूत पृथवी देवता स्थिति का हेतु होने से पुच्छ के समान प्रतिष्ठा आधार है। प्राण से ही मनुष्य तथा पशु आदि और सब इन्द्रियां चेष्टा करते हैं और प्राण ही सब के जीवन का हेतु है। इसलिये प्राण को सर्व आयु कहा है। जो प्राण को ब्रह्म रूप से जानते हैं वह समस्त आयु को पूर्ण रूप से भोगते हैं। उस अन्नमय का यह प्राणमय ही आत्मा है। उस प्राणमय से अन्तर गौण आत्मा रूप मनोमय और है।

उस से यह मनोमय पूर्ण है अर्थात् पूर्वोक्त कोषों के समान आकृतिमान है। उसका यजुर्वेद शिर है, ऋग्वेद दक्षिण पक्ष है, साम वेद उत्तर पक्ष है, आदेश जो ब्राह्मण भाग है वह आत्मा है, और अथर्वा अङ्गिरस आदि मंत्र द्रष्टा ऋषियों के मनोवृत्ति रूप अथर्वणादि वेद पुच्छ प्रतिष्ठा रूप हैं।

"यतो वाचो निवर्तंते अप्राप्य मनसा सह।
आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान्नबिभेति कदाचनेति॥

वेद रूप वाणी तथा उस वाणी के विषय को विचार करने वाला मन, उस ब्रह्म को निर्गुण तथा अप्रमेय रूप होने से घटादि पदार्थों के समान साक्षात् ग्रहण करने में असमर्थ होकर निवृत्त होजाते हैं। ब्रह्मको वेद रूप वाणी निरूपण नहीं कर सकती, तथा मन विषय नहीं कर सकता है। इस प्रकार के आनन्द स्वरूप ब्रह्म को जो उपासते हैं वह संसारी जीवों के समान सांसारिक दुःखों से दुःखित नहीं होते हैं। वह तो ब्रह्मानन्द को भोगते हैं। उस प्राणमय का यह मनोमय ही आत्मा है। उस मनोमय से अन्तर गौण आत्मा रूप विज्ञानमय कोष है। उस से यह विज्ञानमय पूर्ण है। पूर्व पूर्व कोषों के समान ही उत्तर २ कोष आकृति वाले हैं। निश्चयात्मिका बुद्धि की निश्चय रूप वृत्ति श्रद्धा विज्ञान

मय का शिर है बाह्य पदार्थों में मनका निश्चय रूप ऋत दक्षिण पक्ष है, संशयादि रहित सत्य उत्तर पक्ष है, बुद्धि की एकाकारता रूप योग आत्मा है, बुद्धि में स्थित चिदाभास रूप महत्व पुच्छ प्रतिष्ठा है, विज्ञानवान् पुरुष ही श्रद्धादि पूर्वक यज्ञों को करता है। तथा विज्ञान पूर्वक ही समस्त कर्म किये जाते हैं। विज्ञान के विना यज्ञादि कर्म कुछ भी नहीं हो सकते। इसलिये सर्व के कारण रूप विज्ञान को ब्रह्म भावना करके इन्द्रादि देवता उपासना करते हैं। विज्ञान को सर्व का कारण ब्रह्म रूप जान कर उस भावना को जो कभी नहीं छोड़ते हैं वह शरीर कृत पापों को नाश करके सर्व भोगों को स्वच्छन्द भोगते हैं।

'तस्माद्वा एतस्माद् विज्ञानमयात् अन्योन्तर आत्मानन्दमयः'।

उस विज्ञानमय से भीतर गौण आत्मा रूप आनन्दमय और है। उस विज्ञान मय की समानता वाला होने से यह आनन्दमय भी पूर्ण है। अब आनन्द मय की स्पष्टता के लिये अन्तःकरण का स्वरूप दिखलाते हैं। देह के अन्दर होने वाले सुख दुःख के ज्ञान का साधन होने से अन्तःकरण नाम है। अन्तःकरण की सात्विक वृत्ति दो प्रकार की है। एक निश्चय रूप वृत्ति है और दूसरी सुखाकार वृत्ति है। निश्चय वृत्ति वाला आन्तःकरण बुद्धि नाम से कहा जाता है तथा विज्ञानमय भी इसी को कहते हैं। इसी विज्ञानमय की उपाधि के सम्बन्ध से जीवात्मा कर्त्ता, ज्ञाता, प्रमाता इत्यादि नामों वाला कहा जाता है। दूसरी सुखाकार वृत्ति वाले अन्तःकरण विशिष्ट हुआ जीवात्मा भोक्ता कहा जाता है। उस सुखाकार वृत्ति के प्रिय, मोद, प्रमोद यह तीन भेद हैं जो कि आनन्दमय के अवयव रूप कहे गये हैं। अपने लिये वाञ्छित इष्ट वस्तु के दर्शन से प्रिय रूप सुख की वृत्ति उत्पन्न होती है, वांच्छित वस्तु की प्राप्ति से मोद रूप वृत्ति उत्पन्न होती है, और वांच्छित वस्तु के भोग से प्रमोद वृत्ति उत्पन्न होती है। उस आनन्दमय का प्रिय वृत्ति शिर है, मोद वृत्ति दाहिना पक्ष है, और आनन्द रूप ब्रह्म ही आत्मा है। प्रियमोदादिकों में सुख के अवयव रूप से जो ओत प्रोत है, तथा जिस परमात्मा के आनन्द की एक थोड़ी सी मात्रा से यह समस्त प्राणधारी जीव अपने जीवन को धारण करते हैं उसी परब्रह्म परमात्मा से आकाशादि पंचभूत तथा अन्नमयादि पंच कोश चैतन्यता वाले हैं। वह ही ब्रह्म पुच्छ प्रतिष्ठा रूप है। अविद्या कल्पित समस्त द्वैत प्रपंच का जिस में अवसान होता है वह ही अद्वितीय ब्रह्म प्रतिष्ठा है। तथाच।

'यत्र नान्यत्पश्यति नान्यच्छृणोति नान्यत् विजानाति स भूमा, ॥

जिस ब्रह्म ज्ञान की अवस्था में प्राप्त होकर पुरुष अद्वैत रूप ब्रह्म से भिन्न न कुछ देखता है न कुछ सुनता है न कुछ जानता है वह ही अद्वितीय ब्रह्म प्रतिष्ठा है। 'यो वै भूमा तदमृतमथ यदल्पं तन्मर्त्यं, ॥ जो भूमा अर्थात् जो ब्रह्म तथा ब्रह्म का ज्ञाता है वह तो अमृत है अर्थात् मरण धर्म से रहित है, और वस्तु ब्रह्म से पृथक् मानी हुई है वह नाशवान है। उपरोक्त भूमा के महत्व को सुन कर नारदमुनि पुनः सनत्कुमार से बोले कि हे भगवन्! वह भूमा किस के आधार पर स्थित है! तब सनत्कुमार ने कहा कि अपनी ही महिमा में स्थित है अर्थात् उससे परे कोई नहीं जिसकी महिमा में स्थित होवे बल्कि वह परमात्मा ही सब को धारण करता है।

'यश्वन्नेवमन्वान एवं विजानन्नात्मरतिरात्मक्रीड आत्म मिथुन आत्मानन्दः स स्वराड् भवति तस्यसर्वेषु लोकेषु काम चारो भवति, ॥

जो पुरुष अजर अमर अद्वितीय आत्मा को आकाश के समान परिपूर्ण रूप से व्यापक देखता है वह विद्वान, विज्ञान वाला, आत्मा में ही रमण करने वाला होता है। तथा लोक प्रसिद्ध क्रीड़ा वर्जित आत्मा की स्मृति रूप क्रीड़ा वाला होता है, दूसरेकी अपेक्षा विना ही विद्वान द्वन्द्व जनित आनन्द को आत्मा में ही अनुभव करता है, संसारी जीवों को शब्दादि विषयों द्वारा जो आनन्द होता है वह

आनन्द विद्वान् को विना ही निमित्त के सदैव काल रहता है। उक्त लक्षणों वाला विद्वान् जीवित शरीर में ही स्वराज्य सुख को भोगता है और सर्व लोकों में स्वेच्छाचारी होता है अर्थात् उसकी आज्ञा सब के ऊपर होती है।

इस प्रकार से आत्मा के जानने वाला विद्वान् फिर मृत्यु को तथा रोग जनित अनेक दुःखों को नहीं देखता है किन्तु वह सर्वत्र में अपना आत्मा ही देखता है।

अपूर्ण

ऋजिदन्यतोऽपि

[ले० श्री मधुमंगल जी मिश्र बी. ए.]

गतांक से आगे।

महावृष्टि चलि फूट कियारी। जिमि स्वतन्त्र होई बिगरहिं नारी

जलौघैर्निरभिद्यंत सेतवो वर्षतीश्वरे।
पाखण्डिनामसद्वादै र्वेदमार्गाः कलौयुगे॥

कृषी निरावहिं चतुर सुजाना। जिमि बुध तजहिं मोह मद माना

क्षेत्राणि शस्य सम्पद्भिः कर्षकाणां मुदं ददुः।
धनिनामुपतापं च दैवाधीनमजानताम्॥

सरिता सर जल निर्मल सोहा। संत हृदय जस गत मद मोहा।
रस रस शोष सरित सर पानी। ममता त्याग करहिं जिमि ज्ञानी
पंकज रेणु सोह अस धरणी। नीति निपुण नृप की जस करणी।

व्योम्नोऽब्दं भूतशावस्यं भुवः पङ्कमपां मलम्।
शरज्जहाराश्रविणां कृष्णो भक्तिर्यथाशुभम्॥

बल संबेव विकल भये मीना। विविध कुटुम्बी जिमि धन हीना

गाधं वारिचरास्तापमविन्दन्शरदर्कजम्।
यदा दरिद्रः कृपणः कुटुम्ब्यविजितेन्द्रियः॥

शरदातप निशि शशि अपहरई। संत दरश जिमि पातक टरई॥

शरदर्काशुजान्तापान् भूतानामुडुपोऽहरत्।
देहाभिमानजंबोधो मुकुन्दो व्रजयोषिताम्॥

चले हर्षि तजि नगर नृप तापस बणिक् भिखारि।
जिमि हरि भक्ति पाइ श्रम, तजहिं आश्रमी चारि॥

बणिङ्मुनि नृपस्नाता निर्गम्यार्थान्मये दिरे॥
वर्षरुद्धा यथा सिद्धा स्वपिण्डान् काल आगते।

ऊपर के श्लोक श्रीमद् भागवत् दशम स्कन्ध के १९ वें अध्याय के हैं

तात स्वर्ग अपवर्ग सुख धरिय तुला इक संग।
तुल न ताहि सकल मिली जो सुख लव सतसंग॥

तुलयामलवेनापि न स्वर्गं नापुनर्भवम्।
भगवत्संगि संगस्य मर्त्यानां किमुताशिषः। (भा.)

जो आपन चाहइ कल्याना। सुजस सुमति शुभगति सुख नाना
सो पर नारि लिलार गोसाईं। तजै चौथ चन्दा की नाईं॥

उदर्कभूतिमिच्छद्भिः सद्भिः खलु न दृश्यते।
चतुर्थी चन्द्रलेखेव परस्त्री भाल पट्टिका (प्रसन्नराघव)

शिव द्रोही मम भक्त कहावै। सो नर सपनहु मोहि न भावै॥
शंकर विमुख भक्ति चह मोरी। सोनर मूढ़ मंदमति थोरी॥

यो मां समर्चयन् नित्यं एकान्तं भावमाश्रितः।
विनिन्दन्देवमीशानं स याति नरकं ध्रुवम् (कस्यापि)

शङ्कर प्रिय मम द्रोही, शिव द्रोही मम दास।
ते नर करहिं कल्प शत, घोर नरक महं वास॥

शिवस्य श्रीविष्णोर्य इह गुणनामादि सकलं
धिया भिन्नं पश्येत्स खलु हरि नामाहित करः ।

सतयुग त्रेता द्वापरहु पूजा मख अरु योग ।
जो फल होइ सो कलि हरि नाम ते पावहिं लोग ॥
कृतयुग सब योगी विज्ञानी। करि हरिध्यान तरहिं भव प्राणी।
त्रेतावविध यज्ञ नर करहीं। प्रभुहिं समर्पि कर्म भवतरहीं ॥
द्वापर करि रघुपति पद पूजा। नर भव तरहिं उपाय न दूजा।
कलि केवल हरि गुण गण गाहा। गावत नर पावहिं भव थाहा

कृते यद् ध्यायतो विष्णुं त्रेतायां यजतो मखैः।
द्वापरे परिचर्यायां कलौतद्धरि कीर्तनात् ॥ (भा०)

चतुर्थ अवतरण भी देखिये।

कलियुग सम नहिं आन युग जो नर कर विश्वास।
गाइ राम गुण गण विमल भवतर बिनहिं प्रयास ॥

कलेर्दोषनिधेः राजन्नस्ति ह्येको महान्गुणः।
कीर्तनादेव कृष्णस्य मुक्तसङ्गःपरं व्रजेत्। (भा०)

वारि मथे वरु होइ घृत सिकता ते वरु तेल।
बिनु हरि भजन न भवतरिय यह सिद्धान्त अपेल ॥

लोके भवतु आश्चर्यं जलाज्जातु घृतस्य च।
सिकतायां च तत्तैलं यत्ने यातु कथंच न,
विना भक्तिं न मुक्तिश्च भुजमुत्थाय उच्यते ॥

कामिहिं नारि पियारि जिमि लोभिहिं जिमि प्रिय दाम।
तिमि रघुनाथ निरन्तर प्रिय लागहु मोहिं राम ॥

अजात पक्षा इव मातरं खगाः।
स्तन्यं यथा वत्सतरा क्षुधार्ताः ॥
प्रियं प्रियेव व्युषितं विषण्णा।
मनोऽरविन्दाक्ष दिदृक्षते त्वाम् ॥ (भा०)

विस्तृत टीकाकार कभी २ प्रमाण के वचन संस्कृत, भाषा, वा स्थानान्तरों से गोसाईं जी के ही पोषक वाक्य उद्धृत करते हैं। १४ वां और ४३ वां अवतरण वैजनाथी टीकासे और ३७वां अवतरण विनायकी टीका से लिया गया है।

अन्यान्य विज्ञ संस्कृतज्ञ बहुपाठी महाशयों से प्रार्थना है कि वे और अधिक उपयुक्त अवतरण उठा कर अपनी योग्यता का लाभ जनता को पहुंचावें। ऐसे अवतरणों का क्षेत्र बहुत प्रशस्त है। एक लेख के लिये परिमिति आवश्यक है। अतः इसे यहीं विश्राम दिया जाता है।

अवतार सम्प्रदाय और श्रीरामकृष्ण

गतांक से आगे।

[ले० श्री स्वामी मेधेश्वरानन्द जी]

हमारे लिये इतने उत्साह, अध्यवसाय और अनुराग आदि की आवश्यकता नहीं है और न हम में इतना होना ही सम्भव है। किसी प्रकार भी भगवान् की उपलब्धि करने से सांसारिक दुःख की आत्यन्तिक निवृत्ति होती है और उससे मनुष्य परा शान्ति लाभ करता है। यह सर्व शास्त्रोंका मुख्य सिद्धान्त है। परन्तु श्री रामकृष्ण देव ऐसे एक युग में लोकशिक्षार्थ जगदाचार्य के रूप में प्रकट हुये थे कि जिस में आध्यात्मिक उपलब्धि हमारे पास स्वप्नवत् अलीक प्रतीत होती थी और वर्त्तमान जड़विज्ञान ने हमें इतना प्रत्यक्षवादि बना दिया था कि हम बिना देखे भाले किसी सत्य को भी नहीं मानते थे। हम में ऐसा एक विश्वास उत्पन्न हुवा था कि आध्यात्मिक सत्य जिसे कहा जाय वह केवल कतिपय कल्पनिक

भावों के समष्टि मात्र ही है उसमें कुछ भी प्रत्यक्षता नहीं है। परन्तु श्री रामकृष्ण देव ने विभिन्न प्रणालियों से, विभिन्न रूपोंमें एकही आध्यात्मिक सत्य को उपलब्धि करके हमें दिखला दिया कि जो प्रकृत धर्म लाभ करना चाहता है उसको बड़ा ही प्रत्यक्षवादी बनना पड़ेगा नहीं तो आध्यात्मिक सत्य को लाभ करना उसके लिये कल्पना ही में रह जायगा। यह भगवान् के जीवन की प्रत्यक्षता का चूड़ान्त निदर्शन है उन्होंने शास्त्र की एक बात को भी खुद उपलब्धि नहीं करके ग्रहण किया। श्रीरामकृष्ण के इतना प्रत्यक्षवादी होने से सर्व शास्त्रों का सिद्धान्त आज हमारे पास सत्य प्रमाणित हुवा और आध्यात्मिक सत्य को उपलब्धि करने में हम में हिम्मत आगई। जगत् को विशेष कर भारत को श्रीरामकृष्ण का यह बड़ा भारी दान है। ऐसा श्रेष्ठ दान अभी तक और किसी ने नहीं दिया। धर्म जगत् में हम जितने बढ़ाते जायेंगे, हमारी आध्यात्मिक दृष्टि जितनी अधिक खुलती जायगी, प्रकृत मानव सभ्यता को हम जितना अधिक पहचानने लगेंगे उतना ही हम अधिकतर समझते रहेंगे कि यह विशाल आत्मा कौन सी उच्च कोटि की थी और उसने जगत् को बचादिया।

एक निबन्ध में श्रीरामकृष्ण के जीवन की विशेष विशेष विशिष्ठताओं का भी परिचय देना असम्भव है। उनके विचित्र जीवन के जिन श्रेष्ठांशों की थोड़ीसी आलोचना मैंने की है उससे यदि सिद्ध होता है कि वे अध्यात्म शास्त्रोंका जीवन्त भाष्य स्वरूप थे और यदि हम उनकी जीवनी तथा उपदेशों के साथ मिलाकर वेदादि शास्त्रों को पढ़ें तो शास्त्रों से हम अत्यधिक परोक्ष ज्ञान लाभ कर सकेंगे और हमारी चित्तवृत्ति अपरोक्षानुभूति की ओर अभिमुखी हो जायगी। पुण्यस्मृति महापुरुषों का जीवन इतना पावन और उनकी वाणी इतनी सरस और शान्तिमयी होती है कि उनके श्रवण और आलोचना मात्र से ही हम पवित्र बन सकते हैं और हमारी संसार तृष्णा घट सकती है, आध्यात्मिक पिपासा बढ़ती रहती है। श्री भगवान् ने गीता में कहा है:-

मच्चित्ताः मद्गतप्राणा बोधयन्तः परस्परम्।
कथयन्तश्च मां नित्यं तुष्यन्ति च रमन्ति च॥
तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम्।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मां उपयान्ति ते॥

मैं और आगे नहीं बढ़ाना चाहता हूं मौका मिले तो मैं भविष्य में श्रीरामकृष्ण के जीवनऔर शिक्षा के विषय में और भी थोड़ी बहुत आलोचना करूंगा। उपसंहार में मैं अपने प्यारे स्वदेश वासी और सहधर्मी भाईयों से इतना ही निवेदन करना चाहता हूं कि वे इस बात को अच्छी तरह से याद रक्खें कि हरेक जाति की ही एक विशेषता होती है और वह विशेषता उसकी जीवनी शक्ति है। हम हिन्दुओं का वैशिष्ट आध्यात्मिकता में है। उस वैशिष्ट की रक्षा करने में ही हमारे जातीय जीवन की परिपुष्टि होती है और वह वैशिष्ट नष्ट होने से ही हमारा जातीय जीवन नाश हो जायगा। जातिके हिसाब से हम मर जायेंगे। अतः यदि जाति के रूपमें हमें फिर उठना हो तो हमें आध्यात्मिक बल से बलीयान होना पड़ेगा और आध्यात्मिक शक्ति को लाभ करने के लिये हमें वर्त्तमान युगचक्र को चलानेवाले हमारे सनातन धर्मका मूर्त्त विग्रह सर्व धर्म-समन्वयाचार्य भगवान श्रीरामकृष्ण देव की ही पताका तले समवेत होना होगा। क्योंकि बिना युगाचार्य के पैरों तले बैठे युगादर्श को समझने और समझाने की प्रचेष्टा हमारे पास आकाश कुसुम वत रह जायगी।

———

उपासना का स्वरूप

[ले० एक प्रेमी]

भगवान् तो आज भी व्याघ्र बनने को तैयार है परन्तु कमी है प्रह्लाद जैसे भक्तों की। वह तो अब भी नंगे पैर दौड़ने के लिये पहले की भांति प्रस्तुत हैं परन्तु अब नहीं है कोई गजराज की भांति आर्त्तस्वर से पुकारने वाला। वह दयालु तो अब भी अपने दया के विरद को ज्यों का त्यों बनाये हुये हैं परन्तु अब कौन करता है, द्रौपदी जैसा तन्मयता का करुण क्रन्दन? उस भक्त वत्सल का तो जहां चाहिये वहां ही दर्शन कर लीजिये परन्तु प्रथम अपने को बनाइये ध्रुव की भांति ध्रुव विश्वासी, त्यागी तथा तपस्वी। भले प्रकार स्मरण रखिये कि जो जो असफलतायें और असंतोषादि भक्ति पथ के पथिक को इस मार्ग पर चलते समय प्रतीत होते हैं वे सब अपनी ही कमी तथा त्रुटियों के फल स्वरूप हैं। इसमें नतो भगवान् का दोष है और न इस दिव्य मार्ग का। प्रायः यह तो सभी लोग भले प्रकार जानते हैं कि किसी भी वस्तु को प्राप्त करने के लिये प्रयत्न करके उसके समीप पहुंचना होता है। इसी भांति ईश्वर को प्राप्त करने के लिये हमको उसके समीप पहुंचना परमावश्यक है। समीप पहुंचने का आशय यह नहीं है कि वह हम से कहीं दूर है और हमें चल कर उसके पास जाना है बल्कि वह तो सब में रमा हुआ है और ऐसा कोई स्थान नहीं जहां उसके स्वरूप की झलक न पड़ती हो। हमें तो केवल अपने कलुषित मन को जो तुच्छ विषयों तथा संसार के अनित्य पदार्थों के संकल्पों से पूरित है, शुद्ध करके ईश भक्ति रूपी सरिता की तरल तरंगों में डुबकी लगवाना है अर्थात् इसको ऐसा बनाना है कि यह ईश भावना के अतिरिक्त अन्य किसी प्रकार का संकल्प करने में असमर्थ हो जाय। अब सोचना यह है कि इसके लिये क्या करना चाहिये। तो उत्तर मिलता है कि 'उपासना' अपने सामने कोई आदर्श रखिये अपने उपास्य देव की उपासना अटल विश्वास तथा अक्षेय श्रद्धा से करनी चाहिये। यह तो प्रकट हो ही चुका कि 'अपने आपको अपने उपास्य देव के समीप बैठाना उपासना कहलाती है'। अब बात यह करना है कि वे कौन कौन मार्ग और नियम हैं जिन पर चल कर और आचरण में लाकर हम अपने को अपने परम प्रिय देव के समक्ष लेजा सकते हैं तथा उसके समीप बैठा सकते हैं। आज कल उपासक-वृन्द अनेकों मार्गों का अनुसरण करते तथा मन माने सम्बन्ध और नाते अपने देव के प्रति जोड़ते हैं। एक, भगवान् को स्वामी मानते हैं, तो दूसरे उनको सखा बनाते हैं, कोई पिता का सम्बन्ध जोड़ता है, तो कोई पुत्र समझ कर ही उनके बाल चरित्रों पर संतुष्ट तथा मुग्ध है यद्यपि उस जग-दाधार परम देव से जो भी सम्बन्ध माना जाय सभी ठीक हो सकते हैं कोई भी अनुचित तथा बुरा नहीं है और न यह ही ध्यान से निकाल देने योग्य है कि सम्बन्ध जोड़े ही क्यों जायं। सम्बन्धों की आवश्यकता अवश्य है क्योंकि हम नित्य संसार में देखते हैं कि जिससे कुछ सांसारिक सम्बन्ध होता है उसके समीप ही जाते तथा आकर बैठ सकते हैं और यह भी प्रकट है कि जिससे जितना ही घनिष्ट सम्बन्ध होता है उसके समीप पहुंचने में हमें उतनी ही अधिक सरलता होती है। परन्तु हमें अब देखना यह है कि हम किस सम्बन्ध का सूत्र अपने और अपने उपास्य देव के बीच में बांधे जो अन्य सम्पूर्ण सम्बन्धों की अपेक्षा हमको हमारे उपास्य देव के निकट अत्यन्त सुगमता तथा निर्विघ्नता से पहुंचा सके। इसमें संदेह नहीं कि छोटेसे छोटा और तुच्छ से तुच्छ नाता भी हमको किसी सीमा तक हमारे निर्दिष्ट स्थान के निकट पहुंचाता है परन्तु इतने से तो हमारा कार्य नहीं बनता, हमें तो अपने उपास्य देव के निकट से निकट पहुंचना और इतने समीप बैठना है जितने समीप कोई बैठ

सकता है। हम देखते हैं कि जितने ये सांसारिक स्वामी, सखा आदि के सम्बन्ध हैं सब हम को हमारे इष्ट बिन्दु से दूर रखते हैं और यथेष्ट समीपता प्राप्त नहीं करने देते। अतएव इस उपासना के दिव्य पथ के पथिक उपासकजनों को अपने उपास्य देव के प्रति अपने निजात्मा ही का सम्बन्ध जोड़ना अत्युत्तम होगा अर्थात् उपासकको केवल यही भावना करनी चाहिये कि मेरा देव जिसको मैं प्राप्त करना चाहता हूं मेरे आत्म देव के अतिरिक्त अन्य कोई नहीं है। यदि वह कृष्ण का उपासक है तो उपासक को भावना करनी चाहिये कि वह कृष्ण भगवान् मेरे निजात्मा ही हैं। इसी भांति उपासक जिस किसी देव की उपासना करे उस देव को अपने आत्मा से भिन्न कोई दूसरी वस्तु न समझे। यह तो अनिवार्य है कि साधक अपने देव में कोई न कोई सम्बन्ध अवश्य आरोपित करेगा तो फिर हम इन तुच्छ सांसारिक सम्बन्धों को, जो दूरता प्रकट करते तथा स्वार्थांशों से भरे हुये हैं अपने देव के प्रति क्यों जोड़ें। हम क्यों न वही सम्बन्ध जोड़ कर उपासना के पथ के पथिक बनें जो हमको हमारे देव के निकट से निकट पहुंचा सके और जिसमें स्वार्थ का किंचित् लेश नहो। ऐसा सम्बन्ध केवल आत्मसम्बन्ध ही है जो सम्पूर्ण सम्बन्धों से उच्च है और जिसकी रक्षार्थ मनुष्य सम्पूर्ण सम्बन्धों को तिलांजलि दे देता है, यह एक केवल वह सम्बन्ध है जिसमें स्वार्थांश नहीं है। स्वार्थ तो किसी अपने से दूर के सम्बन्ध में हुआ करता है यहां तो अपना उपास्य देव अपना आप ही ठहरा फिर स्वार्थ कैसा। परन्तु उपासकों को ध्यान रखना चाहिये कि इतना ही बस नहीं है हमें और आगे जाना है और उत्तरोत्तर उन्नति के मार्ग पर अग्रसर होकर सम्पूर्ण सम्बन्धों से परे होना है अर्थात् एक दशा आयेगी जब हम इस आत्म सम्बन्ध को स्वर्ण बेणी को भी तोड़देंगे और सम्बन्ध का नाम ही न रखेंगे। उसी समय हमारी सच्ची उपासना का प्रारम्भ होगा और हम अपने आप में और अपने देव में अभेद भावना करने लगेंगे। अर्थात् जो साधक प्रथम यह भावना करता था कि 'यह मेरा उपास्य देव मेरा निजात्मा है' 'यह मैं' उसका ध्यान वा चिन्तन करने वाला हूं वह बात अब नहीं रह जाती प्रत्युत यह चिन्तन ही गंभीर तथा अन्तर्मुखी होता जाता है, मन उतना ही अचंचल तथा एकाग्र हो जाता है, यहां तक कि उपासक सर्वथा अपने को भूल जाता है फिर तो वही विस्मय कारक दशा हो जाती है जो बाबू मैथिलीशरण के एक पद से झलकती है वह पद निम्न लिखित है।

" दूर समझता था मैं तुझको, तू समीप हंस हेरा।
अब भी एक प्रश्न था कोऽहं ?
कहूं कहूं जबतक सोऽहं,
तन्मयता कह उठी कि सोऽहं।

वास्तव में बाततो यही है परदे के पटका नितान्त अभाव हो जाना ही सच्ची उपासना है, जबतक पारस और लोहे में परदा (भेद) रहेगा तब तक लोहा सोना नहीं बन सकता। इसी प्रकार उपासना का स्वरूप पूज्यपाद स्वामी रामतीर्थ जी ने एक उदाहरण से समझाया है वही उदाहरण यहाँ पाठकों की सेवा में रक्खा जाता है।

तीन पुतलियां, एक लकड़ी की, दूसरी कपड़े की और तीसरी नमक की समुद्र की उपासना करने चलीं अर्थात् जलके इतने निकट अपने आपको बिठाया कि जल का प्रवाह ऊपर आने लगा और तीनों पुतलियाँ उसमें गोते लगाने लगीं। पश्चात् काठकी पुतली जलके बाहर आई और तनिक देर पश्चात् उसका जल सूख गया और वह जैसी की तैसी होगई। यही दशा कपड़े की पुतली की भी हुई परन्तु काठकी पुतली की अपेक्षा अधिक समय लगा। अब रही नमक की पुतली वह तो समुद्र से निकल ही न सकी और उसी का रूप होगई

इसी भांति एक तो वे उपासक हैं कि जिन पर उपासना करते समय उसका प्रभाव रहता है पीछे भट ज्यों के त्यों होजाते हैं दूसरे कपड़े की

पुतली के समान हैं जो कुछ देर पश्चात् इसी दशा को प्राप्त होते हैं परन्तु तीसरे वे हैं जो ऐसा गोता लगाते हैं कि उनका फिर अलग होना भी कठिन हो जाता है यही नहीं वहाँ तो ध्याता का नाम ही मिट जाता है केवल ध्येय मात्र शेष रहता है और यह दशा हो जाती है कि:-

'जो तू है सो मैं हूं, जो मैं हूं सो तू है'
न कछ आनूं है न कुछ जानूं है।

भगवद्भक्ति

[ले० श्री पूज्य भोले बाबा जी]

आत्मवत्सर्वभूतेषु यो हिताय शुभाय च।
वर्तते सततं हृष्टः तं भक्तं प्रणमाम्यहम्॥

दया निष्ठा

मंसाराम-महाराज ! कल आपने लीला निष्ठा के भक्तों की कथा सुनायी थी, आज दया के सम्बन्ध में श्रवण कराइये और भक्तों की कथायें भी कहिये।

मस्तराम-(प्रसन्न होकर) भाई ! तेरा प्रश्न बड़ा सुन्दर है, दया भगवत् का स्वरूप है। दया सब धर्मों से परम धर्म है, जब तक दया नहीं आती तब तक कोई धर्म सिद्ध नहीं होता। जिसमें दया है, उस ने सब धर्म कर लिये भगवत् ने नारद जी से वैष्णवों के समस्त धर्म वर्णन करके यह ही कहा है कि दया सब धर्मों में मुख्यतर है। दया का स्वरूप यह है कि दूसरे किसी जीव के दुःख को देख कर हृदय द्रवीभूत और दुःखित हो जाय, इतना ध्यान रहे कि यह द्रवित और दुःखी होना बिना किसी कारण और सम्बन्ध के हो। जब तक दुःखी पुरुष का दुःख दूर नहो जाय तब तक दयावान् को दूना दुःख रहे। यह दया दो प्रकार की है, एक सांसारिक और दूसरी पारमार्थिक दूसरे का दुःख देख कर अपने को दुःख और दया होना, इस के दुःख दूर करने का तन से, मन से और कर्म से उपाय करना, यह दया है। अथवा क्रोध न करना, मधुर वचन बोलना, किसी को किसी प्रकार का दुःख न देना दया है। अथवा उदार होना, किसी की बुराई न चिन्तना, धरती को देख कर चलना, इसका नाम दया है। सारांश यह है कि जिस में दूसरे को दुःख हो, ऐसा कोई कार्य न करना, यह सांसारिक दया है। अनादि काल से जीव जन्म, मरण, नरकादि अनेक प्रकार के कष्ट भोग रहे हैं, उनको देख कर करुणा करना और जैसे बने वैसे उनको भगवत् के संमुख करके जन्म मरणादि दुःखों से छुटा कर कृतार्थ कर देना, यह पारमार्थिक दया है। सांसारिक दया साधक के लिये है, सिद्ध,भगवद्भक्त,विरक्त में दोनों प्रकार की दया होती हैं। दया का दूसरा नाम अहिंसा है। योग शास्त्र में पांच यम और पांच नियम बताये हैं । पांच यमों में अहिंसा प्रथम और मुख्य है। एक अहिंसा पर आरूढ होजाने से दशों यम नियम सिद्ध हो जाते हैं और शीघ्र ही भगवत् की प्राप्ति हो जाती है। जो कोई दया पर दृढ है, इस की महिमा वर्ण नहीं हो सकती।

एक राजा ने चार यज्ञ किये थे। काल के

चक्र से वह राज्य हीन हो गया। उसने सुना कि एक साहूकार पुण्य का फल मोल लेता है। ऐसा सुन कर वह उसके पास अपने किये हुये यज्ञों का का फल बेचने चला। एक समय के भोजन की सामग्री उसके पास थी। मार्ग में उसने रसोई बनायी। जब खाने को बैठा, एक हाल की ब्याई हुई कुतिया भूख से विकल उसके पास आयी। राजा को दया आयी, उसने चौथाई भोजन कुतिया को दे दिया, कुतिया की भूख न गई, तब उसने एक भाग और दिया, इस से भी कुतिया का पेट न भरा, तब उसने दो बेर करके दोनों भाग भी देदिये। कुतिया तृप्त हो कर चली गयी, राजा भूखा ही रह गया, दूसरे दिन भूखा प्यासा साहूकार के पास पहुंचा और अपना अभिप्राय प्रकट किया। साहूकार त्रिकालज्ञ था, कहने लगा।

साहूकार–भाई तूने पांच यज्ञ किये हैं, इनमें से चार यज्ञों का फल बहुत थोड़ा है पांचवें यज्ञ का फल अक्षय है, चार यज्ञों का थोड़ा सा रुपया तुझे मिलेगा, इस से तेरा काम चलने वाला नहीं है और पांचवें यज्ञ का इतना फल है कि इसका रुपया मेरे खजाने में भी नहीं है, हां! सौ भाग में से एक भाग का रुपया दे सका हूं।

राजा–सेठ जी! मैंने तो चार ही यज्ञ किये। हैं, पांचवां यज्ञ कौन सा है?

साहूकार–हे राजन्! पांचवां यज्ञ वह है कि भूखी कुतिया को तूने अपना भोजन दे दिया था, इसके एक भाग का रुपया ले जा और अपना काम कर इतना ही मैं दे सका हूं।

राजा ने ऐसा ही किया, मंसाराम! तात्पर्य यह है कि थोड़ी सी दया अक्षय फल देती है, किसी २ का कहना है कि दया होगी तो आप ही हिंसा से बचेगा और कोई २ ऐसा कहते हैं कि दया अहिंसा का एक अंग है। गीता में भगवान् ने दया और अहिंसा को अलग २ बताया है। इन के भेद का निर्णय करना व्यर्थ है। शास्त्र में दया और अहिंसा के जितने अंग सुने जाते हैं, सब बराबर हैं, इस लिये वट और वटबीज न्याय समझ लेना चाहिये। जैसे पतंजलि भगवान् ने अहिंसा को आदि और मुख्य बताया है, इसी प्रकार गीता के सातवें अध्याय में भगवान् ने अहिंसा यानी अभय का प्रथम वर्णन किया है क्यों कि जब अहिंसा सिद्ध हो जाती है, तो सब जीव भगवत् तत्त्व के विचार में लग जाते हैं, भगवत् तत्व के विचार से भगवत् सर्वत्र दिखायी देने लगते हैं, यह ही भगवत् का मिलना है, जब भगवत् मिल गये तो सब कुछ मिलगया। हे मंसाराम! एक भगवद्भक्त अपने मन को इस प्रकार समझाया करता था–

अरे मन! मनुष्य शरीर बारंबार नहीं मिलता, किसी पुण्य से मिलगया है, सत्शास्त्र देखने को मिलगये हैं, संत महात्माओं का तेरे ऊपर परम अनुग्रह है, यदि अब भी तू श्रीकृष्ण स्वामी के चरण कमलों के ध्यान में न लगा, तो फिर सैंकड़ों जन्मों तक तेरा कहीं ठिकना नहीं है। विचार कर हिरण्यकशिपु, रावण, सहस्रबाहु आदिक सैकड़ों ऐसे हो गये हैं कि जिन्होंने यमराज को भी अपने वश में करलिया था! ऐसे २ बली भी काल के गालमें चले गये तो तेरी क्या गिनती है? जिस से तू प्रीति करता है, जिनको तू अपना जानता है, वे केवल अपने सुख के साथी हैं, संसार समुद्र से उतारने में कोई तेरा सहायक नहीं है, फिर तू उनके लिये

अपना परलोक क्यों बिगाड़ता है ? अपनी हानि लाभ को समझ और इस समाज का चिंतन किया कर कि जिस से तेरे दोनों लोक सुधर जांय !

जनक पुरवासियों के करोड़ों जन्म के जप, तप और पुण्य का आज उदय हुआ है ! राजा जनक के ज्ञान और वैराग्य रूप दोनों वृक्ष आज फले हैं। सीता महारानी का स्वयंवर है, राई के दाने के समान सुमेरु और कैलाश को उठाने वाले लाखों राजा राजमंडप में आये हुये है ! राजमंडप के द्वार, दीवार स्वर्णमय भांति२ के रत्न मणियों से जड़े हुये हैं, जरी का चँदोवा है, चँदोवे में मोतियों की झालरें हैं ! कोई राजा शिवजी के धनुष को उठा नहीं सका है, सब अपना२ जोर लगा कर अपना२ मुख लेकर अपने २ स्थान पर जा बैठे हैं ! श्री रघुनन्दन स्वामी ने उसी कठोर शिव धनुष को तृण के समान तोड़ कर डाल दिया है। धरती पर आकाश से फूलों की वर्षा होरही है, जय जयकार ध्वनि गूँज रही है, हर्षवाद्य बज रहे हैं ! मंगल गान हो रहे हैं ! उसी समय अखिल ब्रह्मांडेश्वरी जनकनन्दिनी सखियों को साथ लेकर जयमाला पहिनाने को चली हैं ! जगज्जननी की शोभा के वर्णन करने में शारदा गूंगी है, शेष जी जिह्वा हीन हैं, फिर प्राकृत कवि तो वर्णन करही कैसे सका है ! सखियों के समाज में शोभा और छवि की मूर्ति सीता महारानी धीरे २ आरही हैं, बड़े उत्साह और उमंग से मन परमानन्द से पूर्ण है, गुरुजनों की लज्जा से जाती हुई, शोभाधाम महाराज के संमुख पहुंची हैं, जयमाला पहिनाना चाहती हैं परन्तु प्रेम वश से पहिना नहीं सकी ! सखी सहेलियों के कहने से दोनों हस्त कमल उठा कर दशरथनन्दन के गले में माला पहिनादी है ! उस समय दोनों का मुख चन्द्र बराबर हो गया है, मन एकाग्र होकर परस्पर रूप अनूप के देखने में लग गया है, दोनों के नयन मिलकर रह गये हैं ! इस समाज को देख कर ब्रह्मादिक देवता अपने २ स्थान पर चित्र से होगये हैं ! जनक अपने भाई बांधवों सहित महा-आनन्द से बेसुध हैं, सुनयना आदि रानियाँ प्रेम में डूब गई हैं ! दशरथनन्दन के श्याम सुन्दर कपोलों पर कुंडल के मोतियों की झलक ऐसी छवि दे रही है कि बरबस मन हाथ से चला जाता है, ऐसा ही भाल पर केशर और गोरोचन का तिलक है, शिर पर मणि सुवर्ण जटित किरीट-मुकुट है, आँखें रसीली हैं, इन की चितवन चंचल है, गले में कंठी और फूलों की माला है, प्याजी जरी का शोभायमान बाग है, कमर कसे हुये हैं, जड़ाऊ हैकल दोनों ओर पड़ी हुई हैं, एक ओर तरकस शोभा दे रहा है, दूसरी ओर धनुष शोभित है ! माला लिये हुये जनकदुलारी के दोनों हाथ कंधे पर आये हुये हैं, मंद२ मुसकाते हुये दोनों परस्पर संमुख विराजमान हैं ! जय युगल जोड़ी की, जय !! जय !!!

कथा राजा मधूरध्वज की ।

जब राजा युधिष्ठिर ने अश्वमेध यज्ञ आरंभ किया और अर्जुन की रक्षा के निमित्त साथ करके यज्ञ का घोड़ा छोड़ा, इसी समय राजा मधूरध्वज ने यज्ञ आरंभ किया और अपने पुत्र ताम्रध्वजको यज्ञ के घोड़े के साथ भेजा। दोनों की राह में मुठभेड़ होगयी। ताम्रध्वज ने महाभारत विजयी अर्जुन को जीत लिया और पूर्ण ब्रह्म सच्चिदानन्दघन श्री

कृष्ण महाराज को भी, जिन के नाम की कृपा से जय का नाम जय है, जीत कर घोड़े को बल से छीन लिया। भक्तवत्सलमहाराज ने देखा कि यहां दोनों ही भक्त हैं, एक की जीत होगी तो दूसरे की इच्छा भंग हो जायगी, इस लिये परीक्षा के निमित्त भगवान् आप वृद्ध ब्राह्मण बने, अर्जुन को लड़का बनाया। दोनों राजा मधूरध्वज के द्वारपर पहुंचे। राजा यज्ञशाला में था। उसने दंडवत् प्रणाम करके विनय पूर्वक आगमन का हेतु पूछा, तब ब्राह्मण बोला–

ब्राह्मण–हे राजन! जंगल में एक व्याघ्र है, वह इस बालक को खाना चाहता था। मैं ने उस से बहुतेरा कहा कि इस बालक के बदले मुझे खाले, वह न माना और कहने लगा कि तू बूढा है, तेरा मांस मेरे काम का नहीं है। अंत में बहुत प्रार्थना करने से यह ठहरा कि यदि राजा का आधा शरीर लादे तो मैं इस बालक को छोड़ दूं यदि आप से बन सके तो इस बालक की रक्षा कीजिये, इसी लिये आप के पास हम दोनों आये हैं।

राजा–(प्रसन्न होकर) हे द्विजवर! यह शरीर एक दिन अवश्य जाने वाला है। यदि आप के काम आजाय तो इस से उत्तम और क्या है, मैं आधा क्या पूरा शरीर देने को तैयार हूं!

ब्राह्मण:–नहीं! राजन! आधा ही चाहिये, पूरा नहीं, एक बात और भी है, व्याघ्र का कथन है कि जिस आरे से राजा का शरीर चीरा जाय, उस आरे का एक सिरा राज कुमार के हाथ में हो और दूसरा सिरा रानी के हाथ में हो, दोनों मिलकर राजा के शरीर को चीरें किसी को किसी प्रकार का शोक न हो!

राजा ने यह बात मान ली। ताम्रध्वज इस प्रकार कहने लगा–

ताम्रध्वज–हे द्विजराज! शास्त्र मत से पुत्र भी पिता का रूप है, यदि मेरा आधा शरीर ले लिया जाय, तो बहुत अच्छा है!

ब्राह्मण–नहीं तू राजा नहीं है, तेरा शरीर नहीं चाहिये।

रानी–हे ब्रह्मदेव! मैं राजा की अर्धांङ्गिनी हूं, राजा के आधे शरीर के बदले, मुझे ले चलिये मुझे खाकर व्याघ्र पूर्ण तृप्त हो जायगा!

ब्राह्मण ने तू राजा नहीं है यह कह कर उसे भी मने कर दिया। आगे ताम्रध्वज और पीछे रानी दोनों मिल कर राजा के शिर पर आरा चलाने लगे जब आरा राजा की नाक तक पहुंचा तो राजा के वाम नेत्र से पानी निकलने लगा। यह देख कर ब्राह्मण कहने लगा–

ब्राह्मण–बस! बस! रहने दो, यह शरीर मेरे योग्य नहीं है!

राजा–(दुःखी होकर) महाराज! कृपा कीजिये, क्रोध न किजिये! वाम अङ्ग को यह दुःख है कि मैं बड़ा पापी हूं कि किसी काम में न आया, दक्षिण अंग बड़ा बड़भागी है कि ब्राह्मण के काम आगया, इसलिये वाम नेत्र में से आंसू निकल आये!

करुणासागर भगवान् इन वचनों को सुनते ही प्रेम में विह्वल होगये, राजा को आरे के नीचे से उठाकर छाती से लगा लिया और अपने साक्षात् रूप से राजा को दर्शन दिया। भगवत् के स्पर्श से राजा के शिरका घाव अच्छा हो गया भगवत् कहने लगे–

श्री भगवान्–हे राजन ! मैं तेरी धर्म निष्ठा से अत्यंत प्रसन्न हूं, जो चाहे सो वरदान मांग !

राजा–(हाथजोड़कर) हे करुणासिंधु महाराज ! जब आप का अनुग्रह है, तो मेरे सब मनोरथ सिद्ध हो गये ! अब कौन सा पदार्थ शेष रहा, जो मैं आप से मांगूं, केवल चरण कमलों की प्रीति चाहता हूं ! एक और नम्र प्रार्थना है कि कलिकाल आने वाला है, इसमें ऐसी परीक्षाओं से भक्त बचे रहें

भगवत् ने अंगीकार किया। पश्चात् अर्जुन और राजा का मिलाप कराके मेल करा दिया। राजा ने हर्ष के साथ घोड़ा फेर दिया। इस चरित्र से भगवान को अर्जुन का गर्व दूर करना था, वह प्रयोजन भी सिद्ध होगया। किसी २ पुस्तक में राजा और रानीका राजकुमार को चीरना लिखा है

कुं०–मयूरध्वज की दया सुन, कौन न मन हर्षाय ।
ब्राह्मण सुतके प्राण हित, निज तनु दिया चिराय ॥
निज तनु दिया चिराय, शोक किंचित् नहीं कीन्हा ।
कलि के जीवन हेतु, योग्यवर हरि से लीन्हा ॥
भोला ! दया विधान, भक्त वत्सल भगवत् भज ।
दया अहिंसा पाल यथा राजा मयूरध्वज ॥

संशयात्मा विनश्यति

(ले० श्री हरिकृष्णदास जी गुप्त)

"तो तुम्हारा अटल निश्चय है, वत्स" !

"ध्रुव के समान, अटल, अचल पथ !" कौशाम्बी नगरी के राजकुमार अनन्त ने विनीत किन्तु दृढ़ स्वर में कहा । उस की दृष्टि गगन गौरव ध्रुव नक्षत्र पर जमी हुई थी।

अर्द्ध रात्रि का समय था। चारों ओर निस्तब्धता थी।

"राज्यपाट का मोह विचलित तो नहीं कर देगा !" गुरु देव हंसते हुए बोले।

'मेरे ध्येय के सन्मुख वह तृणवत् है' राजकुमार के स्वर में गहरी गम्भीरता थी।

गुरु भी गम्भीर हो गये। कुछ क्षण पश्चात् बोले।

"और राह की रुकावटें?"

"वे उत्साह बढ़ावेंगी"

'अच्छा यह बात है, तो अब जाओ, शयन करो, प्रातःकाल मैं तुम्हें पथ दर्शा दूंगा।"

'जो आज्ञा, गुरुदेव'

राजकुमार ने शिर झुका कर गुरु देव को प्रणाम किया और निजकुटि की ओर चल दिया।

× × ×

प्रातःकाल ब्राह्म मुहूर्त्त में, ज्योंही राजकुमार ने शय्या परित्याग कर, कुटि के बाहर पग धरा सम्मुख ही गुरुदेव के दर्शन हुए।

गुरुदेव को देखते ही राजकुमार ने तत्काल चरण छूकर प्रणाम किया वे भी प्रसन्न मन से आशीर्वाद दे, धीमे मधुर स्वर में बोले ।

"मेरे पीछे २ आओ। तुम्हें पथ दर्शा दूं।"

राजकुमार की बांछायें खिल उठीं । वह प्रसन्न मन गुरुदेव के पीछे २ हो लिया।

उस समय अमृत लसा समीर बह रहा

था। प्रकृति ने अपूर्व रूप धारण किया हुआ था। शीघ्र अस्ताचल को पयान करने वाले, शशि के फीके आलोक में आस पास के पर्वत अत्यन्त मनोहर मालूम पड़ते थे।

गंगा किनारे पहुंच गुरुदेव ठहर गये। उन्होंने परम पुनीत सलिल के तीन आचमन लिये और राजकुमार को भी ऐसा ही करने का आदेश किया। राजकुमार ने तुरंत आज्ञा पालन की।

इसके पश्चात् गुरुदेव गंगा के किनारे २ एक पगडंडी पर चलने लगे। दो घड़ी तक वे बराबर चलते रहे। राजकुमार के कोमल पांव दुखने लगे। धूलमधूल हो गये।

पगडंडी समाप्त हो गयी। अब आगे कोई राह न थी। गुरुदेव रुक गये। नितान्त निर्जनता थी, गहरी निस्तब्धता थी, हां गंगा का कल २ नाद अवश्य कानों में गूंजता था।

गंभीर स्नेह भरे स्वर में गुरुदेव ने राजकुमार को संबोधन किया:-

'प्रिय वत्स! अब जो कुछ मैं तुम से कहता हूं, उसे अत्यन्त ध्यान पूर्वक सुनो।'

"जो आज्ञा" राजकुमार एकाग्रचित्त हो, गुरु जी के वचन सुनने के लिये तत्पर हो गया। गुरुदेव ने गम्भीर स्वर में कहना आरम्भ किया।

'वत्स! इस स्थान से मेरा तुम्हारा विछोह होगा। आगे की यात्रा तुम्हें अकेले ही पूरी करनी होगी। तीन दिन रात्रि तुम्हें बराबर अदृश्य पथ पर मन्त्र जाप करते हुए चलना होगा। तीन दिन के पश्चात् तुम एक इस से भी अधिक निर्जन स्थान में प्रवेश करोगे। वहां एक रमणीक गिरिकन्दिरा है जो मेरी तपस्या-स्थल रह चुकी है। उसी कन्दिरा को निवासस्थल बना पद्मासन-आसीन हो निरंतर मन्त्र जाप करना, तुम्हारी समाधि लग जावेगी।

'कौन सा मन्त्र जपना होगा गुरुदेव! राजकुमार की उत्कंठा बढ़ती जारही थी।

'घबराओ मत, धैर्य्य रक्खो। मन्त्र भी बतलाऊंगा। पहिले मेरी बात पूरी सुनलो। हां तो जब तुम्हारी समाधि खुले, उसी समय तुरंत उठ कर मन्त्र जाप करते हुए गंगातट पर जा नेत्रों को पुण्य सलिल से धोना, भगवत् कृपा से तुम्हें दिव्य दृष्टि प्राप्त होगी और तुम भगवान् का दर्शन कर सकोगे तुम्हारा ध्येय पूरा होगा।"

गुरुदेव के वचन सुन राजकुमार का हृदय हर्ष हिलोरें लेने लगा।

गुरुदेव फिर बोले 'कान इधर करो। तुम्हें मन्त्र बतलाऊं।"

राजकुमार ने सश्रद्धा कान कर दिया। गुरुदेव ने मन्त्र कान में फूंका। राजकुमार का मुख दिव्य आभा से आभित हो उठा।

गुरुदेव फिर बोले:- "अच्छा तो अब मैं जाता हूं, तुम भी जाओ। अदृश्य-पथ भगवान् की कृपा से शीघ्र ही तुम्हें दृश्य होगा (कुछ सोच कर) हां! एक बात का ख़याल रखना। गीता के उस महावाक्य को न भूल जना।"

"कौनसा महावाक्य?"

"संशयात्मा विनश्यति"

× × ×

गुरु दीक्षित मन्त्र का जाप करते हुए राजकुमार, तीन दिन तीन रात्रि तक बराबर अदृश्य पथ पर चलता रहा। चौथे दिन का प्रातःकाल एक अत्यन्त शान्त स्थान में हुआ, चारों ओर पर्वत ही

पर्वत थे। गंगा का कल २ नाद वायु मंडल में शान्ति गुंजा रहा था। सलिल धारा अत्यन्त विमल थी। निर्जनता का पूर्ण आधिपत्य था। राजकुमार ने शीघ्र ही गुरु की बताई गिरि कंदिरा खोजली। उगते रवि की रश्मियों द्वारा रंजित गंग लहरों को प्रणाम कर राजकुमार ने कंदिरा के भीतर प्रवेश किया। कंदिरा भीतर से काफी विस्तृत थी, उजाला भी था, हरियाली भी थी, एक मृगछाला भी बिछी हुई थी।

× × ×

राजकुमार ने मृगछाला पर आसीन हो, गुरु आदेशानुसार विधियत् मन्त्र जाप करना आरम्भ कर दिया। सात दिन में समाधि लग गयी।

जिस समय राजकुमार की समाधि भंग हुई, उस समय हेमंत ऋतु आ पहुंची थी, चहुं ओर हिम का राज्य था, शीत की बन आई थी गंगा भी उछल कूद छोड़ ठठरी रुई का लिहाफ ओढ़े शयन कर रही थी। राजकुमार आसन छोड़, मन्त्र जाप करता, कंदिरा के द्वार पर आया। उसका हृदय हर्ष से बल्लियों उछल रहा था। क्यों न उछलता कार्य भी तो समाप्ति पर था। केवल पुण्य सलिल से अक्षि प्रक्षालन ही तो शेष था। राजकुमार कंदिरा के द्वारा पे खड़ा चक्षु प्रक्षालन ही की खोज में था कि उसके आश्चर्य की सीमा न रही। उसे गंगा की कल २ ध्वनि न सुन पड़ी। उसने आश्चर्यान्वित हो दृष्टि उठाई। गंगा के स्थान पर हिम-रेखा दृष्टि गोचर हुई।

"हैं! माता कहां गयी"! राजकुमार का हृदय कांप उठा।

"चक्षु प्रक्षालन किस प्रकार होगा" निशंक हृदय सशंक हो उठा।

समाधि से उठा राजकुमार ऋतु परिवर्तन की बात न सोच सका। उफ! कैसा उलटा है यह मन्त्र! भगवान के दर्शन कराने तो अलग रहे, उनके चरणोदक के भी दर्शन दुर्लभ कर दिये! क्या सचमुच मुझे भगवान के दर्शन न हो सकेंगे। संशय ने राजकुमार के हृदय में घर करना आरम्भ कर दिया। उसे अपना परिश्रम व्यर्थ मालूम होने लगा। वह हताश सा हो धम से कंदिरा द्वार पर ही बैठ गया।

× × ×

कोटि सूर्यों का प्रकाश एक दम फैल गया। पंखों की कड़कड़ाहट का एक तीव्र किन्तु मधुर स्वर हुआ। दर्शन देने के लिये आये हुए कृपासिन्धु, सत्यप्रिय भगवान, गरुड़ पर सवार हो वापिस वैकुंठ को लौट रहे थे। संशयात्मा को कैसे दर्शन होवें!

× × ×

वायु तीव्रता से बहने लगी। धीरे २ उसने भयानक झँझावात का रूप धारण कर लिया। शैल शिखरों पर वेग से हिम-वर्षा होने लगी। गड़गड़ शब्द आकाश में गूँजने लगा।

संशयालु राजकुमार, कौशाम्बी नगरी का भावी भूप अनन्त, नंगे बदन शीतल शिला पर पड़ा हुआ था। उस के कर्ण-कुहरों में रह२ कर यह भयावनी किन्तु सत्य गूँज गूँज रही थी:-

"संशयात्मा विनश्यति"

एक भक्त की भावना

सत्वगुण में एकाकार बुद्धिवाले ब्रह्मादिक देवताओं के गण, मुनि और सिद्ध पुरुष गम्भीर तथा प्रेम पूर्ण वाणी से आजतक जिनकी आराधना और प्रार्थना करने को समर्थ नहीं होते वह भगवान मुझ मन्दबुद्धि पर किस प्रकार प्रसन्न होंगे ? धन, जाति, रूप, तप, पण्डित, श्रुत, ओज, तेज, बल, पौरुष, बुद्धि इन सब में कोई उपाय परमेश्वर की आराधना करने योग्य नहीं है। भगवान् तो केवल भक्ति भाव के भूखे हैं। सुदामा के तन्दुलों पर ही प्रसन्न हो गये। चाहे चार वेद का विभागकर्ता, अनेक यज्ञों का करने वाला, द्वादश गुण सम्पन्न, धन में कुबेर के समान और जाति का ब्राह्मण हो परन्तु भगवद्भक्ति से रहित हो, वह ब्राह्मणों की गणना में नहीं है। जो ! जन जाति का चाण्डाल, महापापी और नित्य सुरापी भी हो परन्तु अपने मन, वचन, कर्म, तन, धन और अपने प्राणों को नारायण के समर्पण करदे, वह महाश्रेष्ठ है, वह ही धन्य है ऐसा वह श्वपच भी अपने सब परिवार को संसार सागर से तार सकता है और अज्ञानी ब्राह्मण भी आपके चरण कमल से विमुख रहने वाला किसी प्रकार अपने परिवार को पावन और पवित्र नहीं कर सकता, वह धन भी केवल तनका पालन करने वाला है कुछ मंगल दायक नहीं है। प्रभो ! अज्ञानी जीवों से अपने लिये आप कुछ पूजा भेट नहीं मांगते, आपको तो किसी वस्तु की आवश्यकता ही नहीं है क्योंकि आप तो अपने ही स्वरूप के भाग से परिपूर्ण और दयालु हो। मनुष्य जो जो पदार्थ भगवान के अर्थ प्रदान करता और आदर सन्मान से भगवान् को चढ़ाता है वह सब अपना ही प्रयोजन सिद्ध करता है। जैसे अपने मुख के तिलकादिक की शोभा अपने ही प्रतिबिम्ब की कान्ति को झलकाती है, ऐसे ही जो प्राणी जिस वस्तु को भगवत् अर्पण करता है वह सब उसी प्राणी को मिल जाता है। इसलिये मैं माया जाल में फंसा हुआ, अधम बुद्धि वाला आपकी अपार महिमा को कैसे वर्णन कर सकता हूं ! आपके चरित्र गान से मनुष्य पवित्र हो जाता है। हे ईश ! सत्वगुणधाम अवतारों की मांगलिक क्रीड़ा को संसार के मंगल के अर्थ आप करते हैं ! हे कृपावत्सल ! इस संसार चक्र के दुःसह दुःख से मैं महादुःखी हूं परन्तु आपके चरणारविन्द की कृपा से साधारण संसार चक्र का मुझे कुछ भी भय नहीं है ! हे कृपालो ! मुझ पर दयालु हो कर आप अपने मोक्ष रूप और शरण रूप चरण शरण मैं मुझ को कब बुलावेंगे ! हे भगवन् ! मैं प्रिय, अप्रिय पदार्थों के वियोग संयोग से प्रकट हुई शोकरूप अग्नि से सब योनियों में रात दिन जला करता हूं। संसार में दुःख दूर करने के जो यत्न हैं वह भी सब दुःख रूप हैं। कभी पित्त अधिक होजाता है, कभी वात बढ़ जाता है, कभी कफ घेर लेता है, कभी देहाभिमान भटका देता है अतः हे प्रभो ! अब आप दास भाव सजीवन मूल औषध बताओ जिस से फिर यह दुःख मुझे कभी न आवे।

हे प्रभो ! संसार के बन्धनों से मोक्ष पाकर आपके चरण शरण में रहने वाले महात्मा पुरुषों के सत्संग से पाये हुवे आपके अद्भुत् चरित्र सम्बन्धी कथाओं का अभ्यास करते करते इस संसार सागर के महाकठिन दुःखों से धीरे धीरे मैं भी पार उतर जाऊंगा।

प्रभो! बालक की रक्षा माता पिता कर भी सकते हैं और नहीं भी, रोग की औषधी बचा भी सकती है और मार भी सकती है, परन्तु सर्वोपरि आपकी कृपा सर्वदा रक्षा ही करती है। रोगियों के कष्ट दूर करने के लिये संसार में अनेक उपाय और अनेक औषधी हैं परन्तु आपकी इच्छा बिना कोई कार्य सिद्ध नहीं हो सकता। सबका यह तात्पर्य है कि, शरीरधारी तुम्हारी उपेक्षा करे तो उसको दुःख है और तुम्हारी चाहना करे तो सुख है। भिन्न स्वभाव वाले ब्रह्मादिक देवता अथवा उनसे पीछे जो उत्पन्न हुवे पिता, पितामहादिक जो कोई पुरुष जिस काल में जिस हेतु से, जिस सम्बन्ध से, जिसके लिये, जिस प्रकार से, जिसकी प्रेरणा से जो कुछ होता है सब आपका ही स्वरूप है। हे ईश्वर! हे जगदीश! अपनी चैतन्य शक्ति से सदा बुद्धि के गुणों को जीतते वाले, अपनी गुणमयी माता के प्रेरक, कार्य और साधनों के साधक, सर्व शक्तियों को अपने आधीन करने वाले आप हैं। और मैं जो इस मन मोहिनी माया से सोलह अरे वाले संसार चक्र में पड़ा हुवा कोल्हू के भीतर गन्ने की नांई पिल रहा हूं। अब हे शरणागत वत्सल। मुझ शरणागत मन्दबुद्धि के मन को मार कर शीघ्र अपनी ओर को खींचो, क्योंकि रस तो निकल चुका है, कुछ सूक्ष्म सा शेष रहा है जो यह भी निकल गया तो फिर किसी काम का भी नहीं रहूंगा। हे विभो! सब स्थान पालकों की आयु, लक्ष्मी, वैभव, स्वर्ग, जिनकी यह प्राणी सदा इच्छा करते हैं उनको तो मैंने सब प्रकार से देख लिया। इसलिये मुझ अज्ञानी को प्राणियों के आशीर्वाद को, ब्रह्मा पर्यन्त की आयु को, लक्ष्मी, इन्द्रियों से भोगे जाने वाले सुख की और संसार के अनेक प्रकार के ऐश्वर्यादिक भोगों के भोगने की मेरी इच्छा नहीं। मैं सिद्धियों को नहीं चाहता क्योंकि वह भी आपके काल रूप प्रबल पराक्रम से खंडित होने वाली हैं। इसलिये हे विभो! मुझ को तो आप अपने दासों के चरण शरण में रखना। कानों को सुख देने वाले अन्त में मृगतृष्णा रूप इन आशीर्वाद से क्या प्रयोजन है? अनेक रोग जिसमें उत्पन्न हों ऐसे शरीर से क्या प्रयोजन? यद्यपि इस बात को सब जानते हैं तो भी लवमात्र मधुर काम रूप अग्नि के मुख में लवलीन हैं, इसको दूर नहीं कर सकते उनको किसी प्रकार वैराग्य नहीं होता वे पण्डित नहीं हैं मूर्ख हैं। हे प्रभो! आपकी माया बड़ी बलवान है। हे प्रभो! आप समदर्शी हैं, आपके यहां दुर्भाव नहीं है, आप जगदाधार और सब के सुहृद हो तो भी कल्पतरु के समान जो जैसी सेवा करता है उसको वैसा ही फल मिलता है। हे नाथ! आप ही सब के नाथ और जगदीश्वर हो क्योंकि इस जगत् के आप और अन्त में एक आप ही रक्षक हो और मध्य में भी आप ही हो। अपनी माया के गुणों से इस विश्व को रचके नाना प्रकार से उन गुणों को दृष्टि आते हो और अन्तर्यामी रूप से सब चर अचर रूप में व्याप्त हो रहे हो। माया के गुणों से भिन्न भिन्न रूप आपका प्रतीत होता है। कोई शत्रु समझता है, कोई मित्र समझता है, आपके भेद अपार हैं, उन भेदों को कोई समझ नहीं सकता। हे ईश! सत् असत् आप ही हो और यह सब माया के गुण हैं। माया से भिन्न नहीं हैं। आप जगत् से भिन्न भी हो तो भी जगत् रूप आप ही हो और यह सब माया के गुण हैं। यह मेरा है, यह पराया है, वास्तव में ज्ञान

दृष्टि से देखो तो न कुछ अपना है न पराया है, सब एक ही रूप है। वृक्ष जैसे धरामय बीज रूप है, बीज सूक्ष्म बीज रूप है और सूक्ष्मभूत ब्रह्म रूप हैं इसी प्रकार यह जगत् पंचमहाभूत रूप है, पञ्च महाभूत अपने सूक्ष्मभूत रूप हैं और सूक्ष्मभूत ब्रह्म रूप हैं। जो पदार्थ जिससे उत्पन्न हो वा जिससे प्रकाशित हो, अथवा जिसमें लय हो वह तद्रूप होता है। महाप्रलय के जल में इस विश्व को रच कर आप अपने सुख का अनुभव करते समय अचेष्ट होकर, योग से दृष्टि को मींच कर, स्वरूप के प्रकाश से निद्रा का पराभव करके, आत्मा की चतुर्थ तुर्या अवस्था में स्थित होकर सब गुणों का संयोग त्याग कर शयन करते हो। अपनी काल शक्ति से प्रकृति गुणों की प्रेरणा करते हो। उन्हीं का स्वरूप यह जगत् है। हे प्रभो! ऋषि लोग कहते हैं कि सत्वगुण आपका प्यारा शरीर है। हे महापुरुष! आप मनुष्य, पशु, ऋषि, देवता और मत्स्यादि अवतार धारण कर लोकों की रक्षा करते हो, और जो संसार के प्रतिकूल होते हैं उनका विध्वंस करते हो यह युग युग में आपका धर्म चला आया है। हे प्रभो! यह मेरा मन अधर्म से दूषित है, सदा बाहरी बातों में लगा रहता है, जीतने में नहीं आता इसलिये हर्ष, शोक, भय, आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभूतिक इन तापों के दुःख से पीड़ित हो आपकी कथा वार्ता में प्रीति नहीं करता। भगवन्! ऐसा होने पर मैं दीन पराधीन आप के तत्व को कैसे जान सकता हूं। हे अच्युत! जिह्वा अतृप्त होकर अनेक मधुर पदार्थों की ही आकांक्षा करती है। इसी प्रकार आंख, कान, नाक आदि सब इन्द्रियां मुझे अपनी ही ओर खींच रही हैं, इन्होंने मुझे व्याकुल बना दिया है। हे भगवन! जिस प्रकार मेरी कुगति है इसी प्रकार सब की कुगति है और इसी कुगति में संसार रूप वैतरणी नदी की धार में उछलते डूबते बहे चले जाते हैं। विश्वनाथ! अपने नेत्रों से देख अनुग्रह करके आज ही यम द्वार वाली वैतरणी नदी से पार उतार कर रक्षा कीजिये। हे भगवन्! आप सब जगत् के गुरु हैं और इस संसार की सृष्टि, स्थिति और विनाश के कारण आप ही हैं। हे प्रभो! आप आर्तजनों के बन्धु हैं, मूढ जनों के ऊपर भी आपका, अतुल अनुग्रह है, आपका नाम आर्तबन्धु है, यदि आप मेरा उद्धार करोगे तो क्या कुछ बड़ी बात है? यह तो आपके लिये तुच्छ सा कार्य है। हे सर्वोत्तम! आपके गुण गान रूप महामृतधारा में जिन के मन मग्न होरहे हैं, वे तो इस दुष्पार संसार रूप वैतरणी नदी का कुछ भी भय नहीं करते। हे प्रभो! वायु, अग्नि, धरणी, आकाश यह सब आपही के रूप हैं, सगुण निर्गुण आप ही हैं, मन वचन से जो कुछ कहा जाता है वह सब आपही हैं। हे प्रभो! कोई भी आपके स्वरूप को नहीं जानता। हे अत्यन्त पूजनीय! नमस्कार, स्तुति, सब कर्म समर्पण, चरणारविन्द की स्मृति और कथा का सुनना यह छ प्रकार की भक्ति प्रदान करो। आपकी भक्ति विना मुक्ति कहाँ? इसलिये आप अनुग्रह करके मुझे अपने दासों का दास बना लो!

अहमस्मि नारायण दासदासः।
दासस्य दासस्य च दासदासः॥

प्राप्ति स्वीकार

भक्त बालक–यह भक्त चरित्र माला का प्रथम पुष्प है। इस में चन्द्रहास, सुधन्वा, मोहन, गोविंद और धन्नाजाट आदि पांच भगवत् के प्यारे भागवतों की मनुष्यों के हृदयों में भक्तिभाव अंकुरित करने वाली सचित्र कथायें हैं। मूल्य ।=) मात्र

भक्तनारी–यह भक्त चरित्र माला का द्वितीय पुष्प है। इसमें शबरी, मीराबाई, करमैती बाई, जना बाई और रबिया आदि पांच भक्त-देवियों के सचित्र जीवन चरित्र हैं मूल्य ।) मात्र

सप्त-महाव्रत–परचदा कारा मन्दिर से पूज्य महात्मा जी द्वारा भेजे हुवे प्रवचनों में से सत्य, अहिंसा ब्रह्मचर्य, अस्वाद, अस्तेय, अपरिग्रह और अभय आदि सात प्रवचनों का उत्तम संग्रह है। मूल्य ।)

वेदान्त-छन्दावली– इस छोटी सी पुस्तक में पूज्य पाद स्वामी भोले बाबा ने सागर गागर में भर दिया है। तत्त्वका अनेक प्रकार से निरूपण किया गया है। इस में वेदान्त का गहन विषय सरल भाषा में उत्तम छन्दों द्वारा समझाया गया है। आशा है जिज्ञासु जन इससे लाभ उठावेंगे। मूल्य ।)॥

आचार्य के सदुपदेश–इसमें गोवर्धन पीठाधीश्वर १००८ जगद्गुरु श्री शंकराचार्य जी महाराज के उपदेशों का श्रीगुरुदित्ता खिन्ना द्वारा संग्रहीत उत्तम संग्रह है मूल्य ।)

समाज सुधार–इसके लेखक श्री हनुमान प्रसाद जी पोद्दार है। इसमें समाज सुधार सम्बन्धी विषयों पर उत्तम विवेचन किया गया है। मूल्य ।)

एक सन्त का अनुभव–इसमें श्री नारायण स्वामी जी के जीवन के प्रत्येक जिज्ञासु के मनन करने योग्य अनुभवों का उत्तम संग्रह है। मूल्य ।)

ऊपर लिखी सभी पुस्तकें गीता प्रेस गोरखपुर से प्रकाशित हुई हैं।

सम्पादक

भजन

जरा वंशी की तान सुनादे तुझे माखन देंगे ॥ टेक ॥
सारी सखियां हिल मिल आवें,
पीछे २ कहती जावें।
कोई वंशीकी तान सुनादे ॥१॥
माधव विरवा पर चढ़ जावें,
ग्वालिन नीचे शोर मचावें।
तू चोर हमारा लादे ॥ २ ॥
किसने बीज प्रेम का बोया,
किसने सखियों का मन मोहा।
वंशी वारे तू साँच बतादे ॥३॥
तेरी नजीर नहीं इस जगमें,
यमुना अन्न पड़ी है मग में।
कोई प्रेम की धार बहादे ॥ ४ ॥
परम सुहावन सावन आया,
सब सखियों का मन हुलसाया।
कोई प्रेम की पींग झुलादे ॥५॥

२

मुखड़ा क्या देखे दर्पण में तेरे दया धर्म नहीं मनमें॥टेक
कागज की एक नाव बनाई छोड़ी गंगा जलमें।
धर्मी २ पार उतर गये पापी डूबे जलमें ॥ १ ॥
आम की डारी कोयल राजी मछली राजी जलमें।

साधू रहते जलमें राजी गृहस्थी राजी धनमें ॥ १ ॥
कौड़ी २ माया जोडी जोड़ धरी बरतन में ।
जम के दूत पकड़ले जीवें रहगई मनकी मनमें ॥
घोट घाट के पगड़ी बांधी तेल लगाया जुलफन में ।
कहै कबीर सुनो भाई साधो कब वे लड़ेंगे रणमें ॥४

३

गुरु जी म्हारे तीर्थ कौन करे ॥ टेक ॥
घट ही में गंगा घट ही में जमुना,
घट ही में धार बहे ॥ १ ॥
घट ही में लोहा घट ही में अहरन,
घट ही में चोट परे ॥ २ ॥
घट ही में शिवजी घट ही में विष्णु,
घट ही में ब्रह्मा वेद पढे ॥ ३ ॥
कहे कमाली कबीर जी की बाली ,
यह दुख कौन सहे ॥ ४ ॥

४

सुमरन बिन अवसर जात चली ॥ टेक ॥
ज्यों माली बिन नाग सूखगयो,
सींचे बिन कुम्हलात कली ॥ १ ॥
छिमा सन्तोष जब ही मन आवे,
सकल व्यधि जरु जात रली ॥ २ ॥
पांचो तत्व विचार करदेखो,
दिल की दुर्मति दूर करी ॥ ३ ॥
कहें कबीर सुनो भाई साधो,
सकल कामना दूर चली ॥ ४ ॥

५

कान्ह नित नये उलहाने लावे ॥ टेक ॥
दूध दही घर काहू की कमी नहीं,
नाहक धूम मचावे ॥ १ ॥
तनक छाछ के कारन मोहन,
माखन चोर कहावे ॥ २ ॥
सूर, श्याम, को यशुमति मय्या,
बारम्बार सिखावे ॥ ३ ॥

६

हरि से लाग रहो रे भाई,
तेरी बिगरी बात बन जाई ॥ टेक ॥
रंका तारी बंका तारी, तारो सदन कसाई ॥ १ ॥
सूवा पढावत गणिका तारी तारी है मीरा बाई ॥२॥
ऐसी भक्ति करो घट भीतर छांड, कपट चतुराई ॥३
सेवा बंदगी और अधीनता, सहज मिले रघुराई ॥ ४
कहें कबीर सुनो भाई साधो, सत्गुरु बात बताई ॥५

७

साधो यही घड़ी यही बेला ॥ टेक ॥
लाख खर्च फिर हाथ न आवे, मानुष जन्म सुहेला ॥१॥
ना कोई संगि ना कोई साथी, जाता भंवर अकेला ॥२
क्यों सोया उठ जाग सवेरे, काल मरेंदा सेला ३ ॥
कहें कबीर गोविन्द गुणगावो, झूठा है सब मेला ॥४॥

८

जागो वंशी वारे ललना जागो मोरे प्यारे ॥टेक॥
रजनी बीति भोर भयो है, घर २ खुले किवारे ॥
गोपी दही मथत सुनियत हैं कंगना के झनकारे ॥
उठो लाल जी भोर भयो है सुर नर ठाडे द्वारे ।
ग्वाल बाल सब करत कुलाहल जय २ शब्द पुकारे ॥
माखन रोटी हाथ में लीनी गौवन के रख वारे ।
मीरा के प्रभु गिरधर नागर शरण आयां को तारे ॥